(आयु) - १३६

युर्वेद
६

सिद्धान्तनिदानम्

महामहोपाध्याय-
कविराज गणनाथसेन विरचितम्

(द्वितीयं खण्डम्)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

अप्रिवर्ट - १३८६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : पञ्चम, संवत् २०२३ वि०

मूल्य : ७-००

© कल्पतरु आयुर्वेदिक वर्क्स, कलकत्ता-६

2P9

Acc. 848/ 868

आयु-९३६

SIDDHĀNTA NIDĀNAM

A Text-Book of the Etiology, Pathology and Symptomatology of Diseases (in Sanskrit)

For

Ayurvedic Students and Practitioners.

BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA

GAṆANĀTH SEN, M. A., L. M. S.

PART II

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1966

Publisher : The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi-1
Printer : Vidya Vilas Press, Varanasi-1
Edition : Fifth, 1966.
Price : Rs. 7-00

© Kalpataru Ayurvedic Works, Calcutta-6.

Acc. 8478/282

The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi. (India)
1966
Phone. 3145.

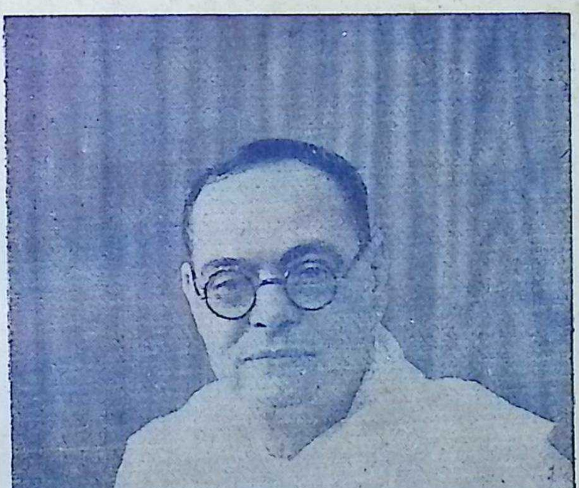

स्व० म० म० गणनाथसेन महोदयाः

म० म० कविराज गणनाथ सेन : जीवन-परिचय

त्रैलोक्य-वन्दिता शिवपुरी वाराणसी में कविराज कुञ्जबिहारी नाम के एक बड़े यशस्वी चिकित्सक रहते थे। इनके पुत्र श्री कविराज विश्वनाथ वैद्य कल्पद्रुम भी बड़े कुशल चिकित्सक थे जिनकी परम धार्मिक पत्नी श्रीमती सौदामिनी देवी के गर्भ से गणेश-चतुर्थीव्रत के अनन्तर (सन् १८७७ में) एक बालक का जन्म हुआ। पितामह इस बालक के जन्म से हर्षविह्वल हो उठे और इसे गणपति का प्रसाद समझकर इसका नाम भी उन्होंने 'गणनाथ' ही रख दिया।

पाँच वर्षों तक ही अपने हृदय का सम्पूर्ण स्नेह-दुलार देकर बालक गणनाथ की माता स्वर्गवासिनी हो गई। पिता ने पत्नी से वियुक्त होकर बच्चे को गले लगाया और एक प्रसिद्ध जमींदार का आमन्त्रण स्वीकार कर उनकी चिर-रुग्णा पत्नी की चिकित्सा के हेतु कलकत्ते आ बसे। इस प्रकार सन् १८८३ ई० से वे बालक-समेत कलकत्ते में रहने लगे।

बालक गणनाथ ने दो वर्षों में ही पूरा अमरकोष और अष्टाध्यायी जैसा क्लिष्ट ग्रन्थ कण्ठस्थ कर डाला और इसी क्रम से आगे बढ़ने लगा। ८ वर्ष की अवस्था में पिता ने इसका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया। जब ये १२ वर्ष के थे उस समय संयोगवश म० म० चन्द्रकान्त तर्कालंकार जी का इनके पिता से परिचय हुआ। संस्कृत में बालक की पटुता और प्रतिभा देखकर वे बड़े विस्मित हुए और अँगरेजी का ज्ञान भी आवश्यक समझकर पिता की सहमति से उन्होंने बालक के लिये अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था कर दी। थोड़े समय में ही बालक गणनाथ ने अँगरेजी भाषा पर भी अच्छा अधिकार कर लिया और विद्यालय के सभी शिक्षकों के स्नेहभाजन बन गए। इसी समय इन्होंने कविता करना भी प्रारम्भ कर दिया था। दुर्गापूजा के अवसर पर रची हुई 'दुर्गापूजा कुसुमाञ्जलि' शीर्षक इनकी कुछ कविताएँ संस्कृत मासिक 'विद्योदया' में प्रकाशित हुई थीं।

१५ वर्ष की अवस्था में गणनाथ जी को छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और ये १० वीं कक्षा में उन्नत कर दिए गए। इधर इन्होंने घर पर ही सुश्रुत संहिता का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और वर्ष भर में उसे पूर्ण कर आयुर्वेद के अध्ययन में उत्तरोत्तर प्रगति करने लगे। इसी बीच इनके पिता दुस्साध्य जलोदर रोग से आक्रान्त हो गए। बालक गणनाथ ने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की किन्तु नवम्बर सन् १८९३ में वे परलोक सिधार गए।

अस्तु, मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करके इन्होंने १०) तथा १६) रु० की दो छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं और मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए जहाँ विशेष योग्यता के कारण इन्हें

निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त हुई। प्रतिवर्ष अनेक वृत्तियों तथा पदकों से पुरस्कृत होते हुए इन्होंने विशेषयोग्यतापूर्वक प्रिलिमिनरी तथा प्रथम एम० बी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। शरीर-क्रिया-विज्ञान, शल्य-विज्ञान तथा अन्य विषयों में पटुता एवं सफलता प्राप्त होने तथा पंचम वर्ष में कालेज का योग्यतम छात्र होने के कारण 'ड्यूक एडिनवर्ग' पुरस्कार तथा कतिपय अन्य पदक भी इन्होंने प्राप्त किए। सन् १९१३ में इन्होंने एल० एम० एस० की उपाधि प्राप्त की और एक मित्र के परामर्श से बी० जेड्० एवं एम्० ए० की परीक्षाएँ भी विशेषयोग्यतापूर्वक उत्तीर्ण कीं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों, विशेषतः सुश्रुत का गम्भीर अध्ययन करने पर इनको शरीर-क्रिया-विज्ञान पर अभिनव ग्रन्थरचना की आवश्यकता प्रतीत हुई और पत्नी एवं पुत्र के अत्यधिक अस्वस्थ होते हुए भी इन्होंने 'प्रत्यक्षशारीरम्' नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया। ८०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ इतना उपयोगी हुआ कि आयुर्वेदिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से स्वीकृत किया गया। इसी क्रम में आगे सिद्धान्त-निदान नामक एक नव्यशैली के परमोपयोगी ग्रन्थ की रचना इनके द्वारा हुई जो भारत-भर में बहुत प्रसिद्ध हुआ और सर्वत्र पाठ्यत्वेन स्वीकृत किया गया।

इनके वैदुष्य से चमत्कृत होकर ही सन् १९१६ में भारत-सरकार ने संस्कृत की उच्चतम 'महामहोपाध्याय' उपाधि से इन्हें विभूषित किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर इन्होंने आयुर्वेद की भूत एवं वर्तमान स्थिति पर जो भाषण दिया था वह इतना महत्त्वपूर्ण था कि उसका अनुवाद सात विदेशी भाषाओं में तत्तद्देश के विद्वानों द्वारा किया गया। इनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता के सम्मान में ही भारत धर्ममहामण्डल ने इन्हें 'विद्या सरस्वती' की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार थोड़े समय में ही अपने प्रतिभापूर्ण विलक्षण वैदुष्य से गणनाथ जी भारत भर में योग्यतम यशस्वी चिकित्सक तथा विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हो गए। असंख्य छात्रों ने इनके सान्निध्य में रहकर आयुर्वेद की उच्च शिक्षा प्राप्त की। भारत के राजाओं ने जिन मेधावी छात्रों को इनसे आयुर्वेद की सम्यक् शिक्षा प्राप्त करने के लिये छात्रवृत्तियाँ प्रदान कीं वे आगे चलकर त्रावणकोर, मैसूर, नेपाल एवं अन्यान्य राज्यों के आयुर्वेदिक विद्यालयों के प्रधानाचार्य एवं मुख्य चिकित्सक के पदों पर नियुक्त हुए।

सन् १९२७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा एवं शिक्षा-विभाग के चांसलर पद पर सर्वोच्च विद्वत्तावश श्री गणनाथ सेन जी ही निर्वाचित हुए थे। सन् १९२९ के अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के सभापति ये ही चुने गए थे। इन्दौर के तत्कालीन महाराजा ने इनके स्वागत की जो भव्य तैयारी की थी वह दर्शनीय थी। सन् १९३० में दूसरी बार फिर उक्त सम्मेलन के मैसूर अधिवेशन के सभापति यही चुने गए। इन दोनों सम्मेलनों में देश के कोने-कोने तथा सीलोन एवं नेपाल से भी आयुर्वेद के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

अध्ययन, अध्यापन तथा चिकित्सा द्वारा तो आयुर्वेद की प्रतिष्ठा इन्होंने बढ़ाई ही, उसके लिये त्याग भी कुछ कम नहीं किया। कलकत्ता में ९४, ग्रे स्ट्रीट पर १२५०००) रुपयों की लागत से बना हुआ अपना विशाल भवन, जो इनकी पहली स्थावर सम्पत्ति थी और जिसमें ये स्वयं रहते भी थे, विश्वनाथ आयुर्वेद विद्यालय और चिकित्सालय को दान कर दिया। इसमें १५०००) मूल्य का क्रिया शारीर-सम्बन्धी दृश्योपकरणों का प्रदर्शन कक्ष विशेष महत्त्व का है। अपनी स्वर्गीय पत्नी सुनीति देवी की स्मृति में इन्होंने ८ शैयाएँ महिला-चिकित्सा विभाग में स्थापित कीं। सन् १९३३ में ५० शैयाओं वाले अन्तरंग चिकित्सा विभाग की स्थापना की और सन् १९३१ में एक लाख २५ हजार रुपए मूल्य का भवन जो विद्यालय तथा चिकित्सालय की व्यवस्था के लिये दान दिया था उसके प्रबन्ध के लिये बोर्ड ऑफ ट्रस्टी का गठन किया। इसके अतिरिक्त ये आठ-दस हजार रुपए प्रति वर्ष विद्यालय को दान करते रहे।

आयुर्वेद की सरकार द्वारा शासकीय मान्यता के लिये इन्होंने जो तत्पर प्रयत्न किए उन्हीं के फलस्वरूप बंगाल सरकार द्वारा स्टेट फैकल्टी ऑफ आयुर्वेद का गठन किया गया।

सत्य तो यह है कि इस महामनीषी का सम्पूर्ण जीवन आयुर्वेद की सेवा में ही विलीन हो गया।

ग्रन्थकर्तुर्निवेदनम्

उदारहृदयैर्गुणग्राहिविद्वज्जनैर्बहुसमादृतेऽपि सिद्धान्तनिदानस्य प्रथमे खण्डे, चिरादेव कालात्तस्य द्वितीयं खण्डं प्रकाशितमिति—कृतागसमात्मानमधुना स्तोकेन ऋणमुक्तं मन्यमानः कथञ्चित् मनःप्रसादमनुभवामि। रोग-शोक-जराग्रस्तेनाऽपि मया याऽसौ ग्रन्थसंपूर्त्तिरंशतो व्यधायि—स भगवतो धन्वन्तरेरेवानुग्रहः।

अत्र च ग्रन्थे येषां रोगाणां निदानपञ्चकमभिहितं ते सम्प्रति यथा यथा दृश्यन्ते तथा तथैव वर्णिताः, न तु गतानुगतिकतया प्राचीनग्रन्थोक्तान्येव लक्षणानि लिखितानि। दुर्लभदर्शनाश्च ऊरुस्तम्भ-शूकदोषादिरोगा नेह वर्णिताः। निदानवर्णने च यानि यानि कारणानि स्वानुभवेन, प्रत्यक्षदर्शनेन, विदितवेदितव्यानां परीक्षाशतैश्च सुज्ञातानि, तान्येव यथाज्ञानं प्रतिपादितानि। अत्र चेत् क्वचित् प्राचीनग्रन्थविरोधः, स गुणदोषज्ञैर्मर्षणीयः। अत्रापि स्मरणीयं प्रत्यक्षशारीरीयमस्मद्वचनम्—"प्राचां विरोध इह नास्ति, कुतोऽथ भाति प्रत्यक्षवस्तुविषये सहनीय एषः"—इति।

ये तु केचिद् जीवाणुकारणवादमद्यापि खण्डयितुमीहन्ते तान् प्रत्युत्तरं सिद्धान्तनिदानस्य द्वितीयाऽध्याये जीवाणुकारणवादप्रसंगे विस्तरेण प्रतिपादितम्। ग्रन्थिकज्वरनिदानटीकायाञ्च पाश्चात्त्यनयोक्तं परीक्षाचतुष्टयं यदभिहितं, तदपि अस्मिन् प्रसंगे समालोचनीयं जीवाणुकारणतासाधनाय। स्मर्तव्यञ्चात्र प्रसंगे सर्वार्थसंग्राहकमस्मदीयं श्लोकद्वयम्—"सन्त्येव सति रोगे ते, वर्धन्ते च रसादिषु। तथाऽभिवृद्धजीवाणुसंक्रमाद्रोगसम्भवः। तद्रोगिदेहात्तेषां च पुनर्लाभोऽभिवृद्धियुक्। जीवाणुहेतुतासिद्धौ परीक्षेयं चतुर्विधा"॥

अथाऽस्य ग्रन्थस्य तृतीयभागः कदा प्रकाशमेष्यतीति प्रश्नस्योत्तरमिदमेव। बलवदस्वस्थशरीरस्य मे शारीर-मानससामर्थ्यं यावत् सर्वथा न क्षीयेत, तावत्तदर्थं प्रयतिष्ये। सुमहति चास्मिन्निदानीं राज्यविप्लवे प्राप्ते कदा मे सङ्कल्पः सिद्धिमेष्यतीति सम्प्रति विश्वविध्वंसनरुचिश्चक्रपाणिर्भगवानेव जानाति।

अथास्य ग्रन्थांशस्य शुद्धिपत्रं न प्रदत्तम्, ग्रन्थसमाप्तौ तु तद्योजनीयम्। इदन्तु प्रार्थ्यते—

'मुद्राकरकराघातकातरा यदि भारती।
कृपाकराम्बुजस्पर्शैः सुधियः सान्त्वयन्तु ताम्'। इति—

भाद्री पूर्णिमा
संवत् २०००

सेनोपाह्व-
श्रीगणनाथशर्मणः

विषय-सूची

(विषयाः)	(पृष्ठाङ्काः)
आहारप्रयोजनम्	१३१
कायाग्नि (जाठराग्नि) स्वरूपम्	१३३
कायाग्निभेदाः	१३६
धात्वग्निस्वरूपम्	१३७
कायाग्नि-धात्वग्निदोषजा रोगाः	१४०
अजीर्णरोगाः	१४१
अतीसाररोगाः (Diarrhœa)	१४८
प्रवाहिका (Dysentery)	१५१
कालातिसारः (Cholera)	१५७
ग्रहणीरोगः (Chronic Diarrhoea)	१६२
अम्लपित्तरोगः (Acidity)	१७५
अम्लशूलादिविविधशूलाः (Colics & Neuralgia) ...	१७६
अर्शोरोगः (Piles)	१८७
गुदभ्रंश-भगन्दरौ (Polapse of Rectum & Fistula) ...	१६६
बद्धगुदोदावर्त्तौ (Intestinal Obstruction) ...	१६७
रक्तपित्तरोगः (Haemorrages of obscure origin) ...	१६६
विविधसन्धिवातरोगाः (Gout & Arthritis) ...	२१०
मेहरोगाः (Urinary Dyscrasias)	२२१
मधुमेहः (Diabetes)	२३४
प्रमेहपिडकाः (Carbuncles, Septic Boils etc.) ...	२४२
आगन्तुपूयमेहः (Gonorrhœa) ...	२४५
उपदंशरोगः (Venereal Sores—non-syphilitic) ...	२५२
फिरङ्गरोगः (Syphilis)	२५५

ॐ नमो ब्रह्मप्रजापत्यश्विवासवधन्वन्तरिप्रभृतिभ्यः।

सिद्धान्तनिदानम्।

पञ्चमोऽध्यायः।

(आहारप्रयोजनम्)

काले हितमिताहारो बलायोपचयाय च।
प्रतिक्षणक्षयस्यापि पूरणार्थं स इष्यते॥ २३१॥
हृत्स्पन्द-श्वास-चेष्टाद्यैः क्षीयमाणेषु धातुषु।
सततं शीर्यते देहस्तस्याहारो हि पूरणः॥ २३२॥

अथेदानीमग्निविकृतिजान् रोगान् व्याचिख्यासुरग्निस्वरूपमादौ निरूपयिष्यन् आहारप्रयोजनाभिधानमुखेनोपक्रमते—**काल** इति। काले यथाकालं नाप्राप्तकालं न वा कालमतिक्रम्य। हित-मिताहारः, हितः पथ्यः, यो यस्योपशेते सम्यक् पुष्टिञ्च विदधाति स इत्यर्थः, मितः अनल्पानधिकमात्रः आहारः अन्नपानम् बलाय व्यायामशक्तिवृद्धये उपचयाय धातुपोषणाय च सम्पद्यते इति शेषः। उपचयश्च द्विविधः—आजन्मनो यौवनान्तमङ्गप्रत्यङ्गवृद्धिरूपः, दैनन्दिनक्षयापूरणरूपश्च। तत्र दैनन्दिनक्षयापूरणं विशिष्याभिधत्ते—प्रतिक्षणेति। वक्ष्यमाणदिशा प्रतिक्षणं प्रवर्त्तमानस्य क्षयस्य धातुक्षयस्यापि पूरणार्थं स तादृश एव आहारः इष्यते आकांक्ष्यते लोकैरिति शेषः। सोऽयमाहाराकांक्षाहेतुरित्यभिप्रायः। ननु प्रतिक्षणक्षयः कथङ्कारं भवतीत्याह—**हृत्स्पन्देति**। हृत्स्पन्दः हृद्यन्त्रस्य सङ्कोचप्रसारकृतं स्पन्दनम्, यद् वामस्तनस्याधस्ताद् धमनीषु चानुभूयते। तत्कारणञ्च सार्व-कायिकशोणितस्य ग्रहण-प्रेरणार्थं हृत्पेशीप्रचेष्टनं, यत् प्रतिदण्डं प्रायेण सप्तदशशतकृत्वः प्रवर्त्तते स्वस्थस्यालक्षितमपि बहुश्रमसाध्यम्। श्वासः श्वासवायोराकर्षण-निःसारण-रूपं कर्म, तदपि नियतं प्रतिदण्डं प्रायेण पञ्चशतकृत्वः[1] प्रवर्त्तमानं स्वस्थस्यालक्षित-मपि भूरिश्रमं जनयति। चेष्टाः शारीरव्यायामाः स्थानासन-चलनाहरण-चर्वण-भाषणाद्याः। चेष्टाद्यैरित्यत्र आद्यपदेन रोग-जराद्या अपि क्षयहेतवो गृह्यन्ते। यद्यपि चेष्टापदेनैव हृत्स्पन्द-श्वासयोरपि शक्यं ग्रहणं तथापि नियतप्रवर्त्तमानयोरलक्षित-

---

१ एषा गणना पूर्णवयसाम्। बालानां तु द्रुततरं प्रवर्त्तते हृत्स्पन्दः। रोगेष्वपि तथा, मन्दं वा क्वचित्। श्वाससंख्यानेऽप्येवम्।

ॐ नमो ब्रह्मप्रजापत्यश्विवासवधन्वन्तरिप्रभृतिभ्यः ।

सिद्धान्तनिदानम् ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

(आहारप्रयोजनम्)

काले हितमिताहारो बलायोपचयाय च ।
प्रतिक्षणक्षयस्यापि पूरणार्थं स इष्यते ॥ २३१ ॥
हृत्स्पन्द-श्वास-चेष्टाद्यैः क्षीयमाणेषु धातुषु ।
सततं शीर्यते देहस्तस्याहारो हि पूरणः ॥ २३२ ॥

अथेदानीमग्निविकृतिजान् रोगान् व्याचिख्यासुरग्निस्वरूपमादौ निरूपयिष्यन् आहारप्रयोजनाभिधानमुखेनोपक्रमते—**काल** इति। काले यथाकालं नाप्राप्तकालं न वा कालमतिक्रम्य। हित-मिताहारः, हितः पथ्यः, यो यस्योपशेते सम्यक् पुष्टिञ्च विदधाति स इत्यर्थः, मितः अनल्पानधिकमात्रः आहारः अन्नपानम् बलाय व्यायामशक्तिवृद्धये उपचयाय धातुपोषणाय च सम्पद्यते इति शेषः। उपचयश्च द्विविधः—आजन्मनो यौवनान्तमङ्गप्रत्यङ्गवृद्धिरूपः, दैनन्दिनक्षयापूरणरूपश्च। तत्र दैनन्दिनक्षयापूरणं विशिष्याभिधत्ते—प्रतिक्षणेति। वक्ष्यमाणदिशा प्रतिक्षणं प्रवर्त्तमानस्य क्षयस्य धातुक्षयस्यापि पूरणार्थं स तादृश एव आहारः इष्यते आकांक्ष्यते लोकैरिति शेषः। सोऽयमाहाराकांक्षाहेतुरित्यभिप्रायः। ननु प्रतिक्षणक्षयः कथङ्कारं भवतीत्याह—**हृत्स्पन्देति**। हृत्स्पन्दः हृद्यन्त्रस्य सङ्कोचप्रसारकृतं स्पन्दनम्, यद् वामस्तनस्याधस्ताद् धमनीषु चानुभूयते। तत्कारणञ्च सार्वकायिकशोणितस्य ग्रहण-प्रेरणार्थं हृत्पेशीप्रचेष्टनं, यत् प्रतिदण्डं प्रायेण सप्तदशशतकृत्वः प्रवर्त्तते स्वस्थस्यालक्षितमपि बहुश्रमसाध्यम्। श्वासः श्वासवायोराकर्षण-निःसारण-रूपं कर्म, तदपि नियतं प्रतिदण्डं प्रायेण पञ्चशतकृत्वः[१] प्रवर्त्तमानं स्वस्थस्यालक्षितमपि भूरिश्रमं जनयति। चेष्टाः शारीरव्यायामाः स्थानासन-चलनाहरण-चर्वण-भाषणाद्याः। चेष्टाद्यैरित्यत्र आद्यपदेन रोग-जराद्या अपि क्षयहेतवो गृह्यन्ते। यद्यपि चेष्टापदेनैव हृत्स्पन्द-श्वासयोरपि शक्यं ग्रहणं तथापि नियतप्रवर्त्तमानयोरलक्षित-

---

१ एषा गणना पूर्णवयसाम्। बालानां तु द्रुततरं प्रवर्त्तते हृत्स्पन्दः। रोगेष्वपि तथा, मन्दं वा क्वचित्। श्वाससंख्यानेऽप्येवम्।

स हि कायाग्निना पक्वः सारं सञ्जनयेद् रसम्।
स च धात्वग्निभिः पक्वो धातूपचय-शक्तिकृत्॥ २३३॥

चेष्टयोस्तयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं पृथगुपादानम्। तैश्च हृत्स्पन्दादिभिर्हेतुभिर्धातुषु शारीरोपादानेषु क्षीयमाणेषु अंशतो ध्वंसं गच्छत्सु देहः शरीरं शीर्यते कृशीभवति। तस्य चाहारः अन्नपानादिः पूरणः धातुनिर्माणेन पुनः पूर्णताकरः। अत्र आहारपदं श्वासवायुसमाहृत-विष्णुपदामृतस्यापि[1] उपलक्षणम्। तद्धि रक्तस्य विशोधनाय तदभावपूरणाय चावश्यकम्। तदुक्त शार्ङ्गधराचार्येण—"नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्। पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्।"-इत्यादि (पूर्वखण्ड० ५ अ०)। २३१।२३२॥

ननु अत्यन्तविसदृशाद् गोधूमतण्डुलाद्याहारात् रक्तमांसादिधातूनां पूरणं कथं सम्भवतीत्यपेक्षायामाह—**स हीति**। यतः स आहारः कायाग्निना जाठराग्निना पक्वः पाकं प्राप्तः सारमाहारसारभूतं रसं रसाख्यं धातुं सञ्जनयेत् सम्यक् निष्पादयेत्—इत्येष यथाकाल-हित-मिताहारिणां स्वाभाविको नियमः। स च रसो धात्वग्निभिः धातुषु निगूढावस्थितैरग्निभिः दहन-परिणमन-शक्तिजननशक्तिधरैः सूक्ष्मवस्तुभिः पक्वः प्रसादकिट्टरूपयोः परिणमितः धातूपचयं धातुपरिवर्धन-धातुक्षय-पूरणात्मकं कार्यं तथा शक्तिं नियतानियतव्यायामादिशक्तिं च करोति जनयति। एवञ्च धात्वग्निकृतः पाको न केवलं धातूनां जनकः, किन्तु अंशेन ध्वंसकोऽपि धातूनां किट्टपरिणामदर्शनात्। धातुदहनावशेषो हि किट्टराशिः भस्मराशिरिव इन्धनदहनावशेषः। उक्तञ्च—"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य च कफोऽसृजः। पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः॥ स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्। प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः॥" इत्यादि। (च० चि० १५ अ०) अन्यत्र चोक्तम्—"धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते" इति (च० सूत्र० २८ अ०) व्याख्यातञ्चेदं चक्रपाणिना—"धातुराहारो येषां ते धात्वाहाराः। धातवो रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिजनितधात्वाहारा एव सन्तः परं स्वास्थ्यमनुवर्तन्ते, नान्यथा।" इति। नव्याश्चाहुः—योऽयं प्रतिक्षणक्षयो धातूनामग्निदहनरूपः स एव नियतानियतचेष्टाशक्तेर्जनकः स्वाभाविक-सन्तापरक्षकश्च। अनुक्षणदहनञ्च धातूनामिहाभिप्रेतमित्यग्रे दर्शयिष्यते। २३३॥

---

१ विष्णुपदामृतम्=Oxygen. तस्य चादानप्रयोजनम् प्रत्यक्षशारीरे फुस्फुसवर्णनावसरे स्फुटीकृतं जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम्।

(कायाग्निस्वरूपम्)

महास्रोतसि सम्प्राप्तमन्नपानं पचेत्तु यः।
क्षाराम्लरसनिःस्रावैः स कायाग्निरितीरितः॥ २३४॥

तदेतद् बीजरूपेणाभिधाय विस्तरमाह—**महास्रोतसीति**। महास्रोतो नाम आमुखादपानं यावत् प्रसृतो दीर्घतमोऽन्नमार्ग आमाशय-पच्यमानाशय-पक्वाशयरूपः। तत्र सम्प्राप्तं सङ्गतम् अन्नपानं यः पचेत्, रस-मलरूपयोः परिणमयेत्, स कायाग्निरिति ईरितोऽभिहितः पूर्वैरिति शेषः। अथ कथङ्कारं पचतीत्यपेक्षायामाह क्षाराम्लरसनिःस्रावैरिति। पञ्चविधा हि निःस्रावा अन्नवहमार्गे स्रवन्ति, तेषु चत्वारः क्षारस्वभावा एकस्त्वीषदम्लः। तद्विवरणं यथा—मुखलाला क्षारस्वभावा भुक्तचर्वणकाले तण्डुल-गोधूमाद्यन्नं भिन्नसंघातं विधाय मधुरतरं करोति, तच्च आमाशयस्थेन मधुरशीतलेन स्तोकेण क्लेदकाख्य-श्लेष्मणा संसृज्यमानं प्रक्लिन्नतरं भवति। उक्तञ्च—"माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च। आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः।" इति (सुश्रुत० सूत्र० २१ अ०) अत्र सम्भवतीत्यस्य उपचीयते इत्यर्थः कल्पनीयः, यतो मधुरपिच्छिलत्वादिस्वभावया मुखलालयैव प्रकल्प्यते तस्य भूयिष्ठो भागः। चरकेऽप्युक्तं "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते।" इति (चरक० चिकि० १५ अ०)। अत्र प्रपाकात् प्रथमपाकाद् हेतोः मधुराद्याद् मधुर आद्यो यस्य तादृशाद् भावात् परिणमनात्—इति स्पष्टमुच्यते मधुरविपाकः प्रथमः। स च चर्वणोत्थमुखलालाकृत एव। फेनभूत इति फेनसदृशः अघनः कफः क्लेदनश्लेष्मा उदीर्यते निःस्रवतीत्यर्थः। स च आमाशयान्तरीयश्लेष्मलकलातः सम्भवति। मुखलाला तु कर्णमूलिक-हन्वधरीय-जिह्वाधरीयाख्येभ्यो ग्रन्थिभ्यः स्रवति मुखान्तश्चर्वणकाले इति शारीरे प्रदर्शितम्।

अथ स्वल्पादेव कालादामाशये प्रवर्त्तते अम्लरसनिःस्रावो वैदलामिषदुग्धादिपाकाय, तद्रसस्राविसूक्ष्मग्रन्थिभ्य आमाशयान्तःप्राचीरनिगूढेभ्यः। स चाम्लनिःस्रावो भूरितरं प्रवृत्तो विदग्धाजीर्णं, तदुपेक्षयाऽम्लपित्त-शूल-ग्रहण्यादिरोगांश्च काले जनयतीत्यग्रे दर्शयिष्यामः। सोऽयं द्वितीयो भुक्तविपाकोऽम्लरसभूयिष्ठः किञ्चिद्विदाहकृत्। तदेतदुक्तं चरके—"परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयात च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।" इति (चरक० चिकि० १५ अ०)। अथामाशयात् प्रायेण होराद्वयानन्तरं ग्रहण्यां प्रच्युतमर्द्धपक्व-

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिको मतः।

स्वस्थानस्थोऽपि सर्वेषामग्नीनां स हि पोषकः॥ २३५॥

मीषदम्लं भुक्तं पुनः पच्यते सम्यक्तरं द्वाभ्यां क्षाररसाभ्यां—याकृतपित्तेन अग्न्याशयिकरसेन चेति। तौ हि पृथक् स्रोतोभ्यां समागत्य मिलितेन स्रोतसा मिश्रीभूय द्वादशांगुलं क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागं ग्रहणीं नाम प्रविशतः, तयोश्च मिश्रीभूतयोरच्छपित्तमिति संज्ञा प्राचाम्। तत्र याकृतपित्तं यकृत्-पित्तकोषाभ्यां पृथगेव सम्भृत्य नलिकाकृतिस्रोतोभ्यामन्ते मिलिताभ्यां निष्पन्नेन एकेनैव स्रोतसा स्रवति—तदेतद् ईषत्कटुक्षारं पीतं हरिद्वर्णं वा पित्तम् वमनादौ विलोमगत्या कदाचित् निःसरति। आग्नेयरसः पुनः स्वच्छप्रायो द्रवक्षारस्वभावो योऽग्न्याशयात् स्रवति पृथक्स्रोतसा। उभयोर्मिश्रणेन च (मिलितस्रोतसा) सम्भवत्यच्छपित्तम्, येन निरम्लीक्रियते सम्पच्यते च आमाशयात् प्रच्युतमन्नं ग्रहण्यामिति तृतीयो विपाकः कटुक्षारो व्याख्यातः। तद्विवरणविस्तरस्तु प्रत्यक्षशारीरे द्रष्टव्यः। अथ क्षुद्रान्त्रेषु क्रमादवतीर्णं पच्यमानं तदन्नं पुनरपि तत्रोद्भूतेनेषत्कटुक्षारेणाऽन्त्ररसेन विपच्यते। तथा विपक्वस्य च तस्य अन्त्रान्तरीयकलान्तर्निविष्टाभिः रसाङ्कुरिकाभिः सारः आकृष्यते त्रिचतुरहोराभिः, प्रविशति च तदवशिष्टं बृहदन्त्रस्याद्यभागमुण्डुकं नाम मलभावपरिणामाय (अतएव बृहद्न्त्रस्य पक्वाशय इति मलाशय इति वा संज्ञा)। मलभावपरिणामश्च सम्यग् बृहदन्त्र एव समग्रे भवति, आप्यभागस्य तत्रैव शनैः प्रशोषणात्, केषाञ्चिन्मते किञ्चित्पाकाच्च। २३४॥

अथ कायाग्निमहिमानं स्पष्टतरं व्याचष्टे प्राचीनवचनेन **अन्नस्येति**। अन्नस्य विविधाशितपीतस्य पक्ता पाचकः कायाग्निः सर्वेषां पक्तृणां त्रयोदशविधाग्नीनां मध्ये अधिकः श्रेष्ठो मतः प्राचाम्। त्रयोदश ह्यग्नयः प्राचां नये दर्शिताः—यथा भुक्तद्रव्यगताः पार्थिवादयः पञ्च, धातुगताः धात्वग्नयः सप्त, एकश्च पाचकाग्निरिति। यथोक्तं—"भौम्याप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥ यथास्वं ते च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ सप्तभि र्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥" (चरक० चिकि० १५ अ०)। अथ कायाग्नेः श्रेष्ठत्वे हेतुमाह—यतः स्वस्थानस्थोऽपि स्वस्थानम् आमाशय-पच्यमानाशय-पक्वाशयाः यकृदग्न्याशयसहिताः, तत्रस्थितो हि स तांस्तान् पाचकरसान् निःस्रावयति, तथा कृत्वा च पाकान्ते रसादानकर्मणा

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते॥ २३६॥

सर्वेषां धात्वादिस्थितानामग्नीनां पूर्वोद्दिष्टानां पोषकः उपचयकर्त्ता, 'धातवो हि धात्वाहारा' इति चरकोक्तेः। सुश्रुतोऽप्याह—"तच्चादृष्टहेतुकेन कर्मणा पक्वामाशय-मध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोष-रस-मूत्र-पुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणानुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा।" इति (सुश्रुत० सूत्र० २१ अ०)। अत्र पक्वाशयपदेन पच्यमानाशयोऽपि गृह्यते। मध्यस्थमभ्यन्तरस्थम्, न तु उभयोरन्तराले स्थितम्। २३५॥

ननु पित्तं हि स्थूलं नीलपीतादिलक्षणमुक्तम्, प्रतिपादितञ्च पित्तमेवाग्निरिति सुश्रुते (सु० सू० २१ अ०), तत् कथं तदेव स्वशक्त्या सर्वेषामग्निस्थानानामनुग्रहं करोति, विवेचयति वा दोष-रस-मूत्र-पुरीषाणि—इति चेत्, उच्यते। जाठराग्निर्हि विविधपाचकरसनिःस्रावजननः सूक्ष्म एव। तादृश एवासौ सर्वेषामग्नीनामात्म-शक्त्या अनुग्राहकः तत्पोषकत्वात्, दोष-रस-मल-मूत्रादिविवेचनकरश्च यकृदादौ तत्परिणमनात्। तदेतद् द्रढयति सौश्रुतवचनेन **जाठर** इति। जाठरः उदर्यः भगवान् अचिन्त्याद्भुतप्रभावः, ईश्वर प्रभुः शरीरस्य निग्रहानुग्रहसमर्थः। अग्निः, कायाग्निरित्यर्थः, अन्नस्य चतुर्विधभुक्तस्य पाचकः। स सौक्ष्म्यात् इन्द्रियाऽगोचर-त्वात्। रसान् भुक्तसारभूतानंशान्। असंख्यरसाङ्कुरिकाभिः पच्यमानाशये (क्षुद्रान्त्रेषु) रसग्रहणाद् बहुवचनेनाभिधानम्। आददानः गृह्णन्, आकर्षन्नित्यर्थः। विवेक्तुं न शक्यते ईदृक्तया इयत्तया वा प्रत्यक्षीकरणेन परिच्छेत्तुमशक्यः, कार्यमात्रानुमेयः इत्यभिप्रायः। अमुञ्च श्लोकं व्याचक्षाणश्चक्रपाणिराह भानु-मत्याम्—"सूक्ष्मत्वमिहानुद्भूतरूपमनुक्षणदाहकरत्वं च ज्ञेयम्। रसानाददान इति रस-मलविवेकार्थं रसान् गृह्णन्नित्यर्थः। रसशब्देन रसाधारं द्रव्यमन्न-पानरूपमुच्यते। विवेक्तुमिति रुधिरादेरन्यतया ग्रहीतुमिति।" (सुश्रुत टीका० सूत्र० १५ अ०)

यत्तूक्तं—"न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहन-पचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेष्वग्निवदुपचारः क्रियते आन्तराग्निरिति।" इत्यादि (सु० सूत्र० २१ अ०)। तत् लौकिकदृष्ट्या अरुन्धतीदर्शनन्यायेन व्याख्यातव्यम्, अन्यथा "विवेक्तुं नैव शक्यते" इति स्ववचनेन विरोधो दुर्वारः। यत्तु "पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति

(कायाग्निभेदा)

अथ मन्दश्च तीक्ष्णश्च विषमश्च समश्च सः।
कफपित्तानिलाधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥२३७॥
श्लेष्मजान् कुरुते मन्दस्तीक्ष्णोऽग्निः पित्तसम्भवान्।
विषमो वातजान् रोगान् समस्त्वारोग्यदायकः ॥ २३८ ॥

नीलं पीतं तथैव च"—इति सौश्रुतवचनं, तत् स्थूलयाकृतपित्ताभिप्रायेणावगन्तव्यम्। यत्तु चरके—"सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च सरमम्लं द्रवं कटु" इति पित्तस्याप्यम्लता कथ्यते, तत् आमाशयनिःस्रुताम्लरसाभिप्रायेण व्याख्येयम्। वस्तुतस्तु पित्तपदं सामान्यतो निखिलपाचकरसार्थकं, विशेषतश्च याकृतादिपित्तार्थे प्रयुक्तमवगन्तव्यं मृग-लोहादिशब्दवदिति समाधिः। अग्निस्तु सूक्ष्मरूपः किण्ववद्वस्तुगर्भितरसानां जनकः। ननु अन्नस्य ग्रहण-चर्वणादि रसादानान्तं कर्म वायोरेव स्यात् चेष्टारूपत्वात्, तत कथमग्नेरेवेश्वरत्वं रसादानसामर्थ्यञ्चोपदिश्यते—इति चेत, शृणु। वायुसहकृतस्यैवाग्नेरेष प्रभावः, तथाह्युक्तं—"समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥" इति (चरक० चिकि० १५ अ०)। सुश्रुतेऽप्युक्तम्—"आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि।" (सु० नि० १ अ०) तस्मात् समानवायुसहाय एवाग्निः तांस्तान् पाचकरसान् निःस्रावयति, पचति चान्नं, गृह्णाति च रसं, विविनक्ति च मलानिति तात्त्विकः सिद्धान्तः। २३६॥

अथ श्लेष्मपित्तादीनामाधिक्येन तत्साम्येन च जाठरानलस्य चातुर्विध्यमाह **अथेति**। कफाधिक्यान्मन्दः, पित्ताधिक्यात् तीक्ष्णः, अनिलाधिक्याद् विषमः। तेषां कफपित्तानिलानां साम्यात् समः जाठरोऽनलः कायाग्निर्विज्ञेयः। अत्र पित्तादनलस्य तीक्ष्णत्वाभिधानदर्शनादग्निपित्तयोरभेदशङ्का निरस्यते—इत्यवधेयम्।२३७॥

अथ मन्दादिचतुर्विधजाठराग्नीनां रोगजनकत्वमाह—**श्लेष्मजानिति**। मन्दोऽग्निः श्लेष्मजान् रोगान् आमाजीर्णादीन् उदर्यगदान् अन्यांश्च कफरोगान्, तीक्ष्णोऽग्निः पित्तसम्भवान पित्तजान् रोगान् विदग्धाजीर्णादीन् अन्यांश्च पित्तरोगान्, विषमोऽग्निः वातजान् रोगान् विष्टब्धाजीर्णादीन् अन्यांश्च वातव्याधीन् कुरुते जनयति। समस्त्वग्निः आरोग्यदायकः स्वास्थ्यरक्षणः। एतत्तु स्वभावाद् वातादिप्रकृतीनां जनानां दृश्यते। मिथ्याहारविहाराभ्यामपि दूषितोऽग्निः श्लेष्मादि-प्रकोपणनिदानयोगात् तादृशानेव रोगान् जनयति। २३८॥

(अथ धात्वग्निस्वरूपम्)

अथ तत्पाकसम्भूतो रसो यो हृदयं व्रजन्।
आरुह्य धमनीस्तस्माद् धातुं धातुं प्रपद्यते।
तस्यैव परिणामा हि सार-किट्टविभागतः।
क्रियन्ते धातुपोषाय यैस्ते धात्वग्नयः स्मृताः॥२३९।२४०॥

अथ आहारसारभूतस्य रसस्य परिणामशैलीवर्णनमुखेन धात्वग्निस्वरूपं व्याचष्टे **अथेति**। तत्पाकसम्भूतः आमाशय-पच्यमानाशययोराहारस्य यः पाको वर्णितपूर्वः तस्मात् पाकात् सम्भूत उत्पन्नस्तत्साररूपः। हृदयं व्रजन् महासिराभ्यां हृदयं प्रविशन्। हृदयप्रवेशश्च रसस्य रक्तमिश्रस्यैव सम्पद्यते। तच्च यथा भवति तत् प्रत्यक्षशारीरे वर्णितम्, यथा—"भुक्तरससंवहनं पुनर्द्विविधम्। भुक्तरसस्य सौम्याग्नेयभेदेन द्वैविध्यात्। आहारो हि सौम्यश्चाग्नेयश्च, स तद्गुणप्राधान्याद् द्विविधं रसं जनयति। तत्र सौम्यानां दुग्धादीनां यो रसः सौम्यस्तनुमण्डाकारः सोऽन्त्रेभ्यः सूक्ष्मैः रसाङ्कुरिकान्तःस्थैः रसस्रोतोभिराकृष्यमाणः पृष्ठ-वंशपुरःस्थां रसप्रपां प्रविशति, नीयते च ततो वामया रसकुल्यया गलमूलिकां सिरां, तया चोत्तरां महासिरां, तन्मार्गेण च हृदयम्। तदेतत् सौम्यं रससंवहनं नाम। अथापरो मांसाद्याहारसम्भवो यो रस आग्नेयः स आमाशय-पच्यमानाशययोरन्तःस्थकलायां वर्त्तमानैः सूक्ष्मजालकैराकृष्यमाणः प्लीहाद्यागतेन सिरारक्तेन मिश्रीभूय यकृत प्रविशति प्रतीहारिण्याख्यया महासिरया। यकृत्प्रविष्टश्च स पुनर्विपच्यते निर्विषीक्रियते च तत्रस्थैः सूक्ष्मैः सिराजालकैर्निर्माणकौशलविशेषात् प्रभावाच्च। ततश्चापराभिः सूक्ष्मसिराभिः संगृह्यमाणस्य तस्य याकृतीभिः सिराभिरधरमहासिरायां ततश्च हृदये प्रवेशः। तदेतत् आग्नेयं याकृतं वा रससंवहनं व्याख्यातम्। एवं च रसरक्तयोर्मिश्रीभावाद् रसस्य हृदि प्रवेशः" इति दिक्।

अथ हृदयप्रवेशानन्तरं धमनीषु प्रविष्टः स एव रक्तमिश्री रसः, तस्मात् हृदयात् धातुं धातुं रस-रक्तादिधातून् प्रपद्यते प्राप्नोति। धातुं धातुमिति वीप्सायां द्विरुक्तिः। हृद्यन्त्रस्य संकोचप्रसारक्रिययेति शेषः। अतएवोक्तं सुश्रुते—"स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्॥" (सु० सू० ४६) इति। व्यानवायुश्च सिरा-धमनीजालकेषु रक्तस्य सञ्चारकः हृत्पेशीसंकोचद्वारेण।

अथैवं युगपत् सर्वधातुप्रपन्नो रसो यथा यथा धात्वग्निपक्वो धातुपोषणाय सम्पद्यते तदाह—**तस्यैव** इति। परिणामो नाम एकस्य वस्तुनः वस्त्वन्तररूपेण

परिवर्त्तनम्—यथा रसस्य रक्त-मांसादिरूपेण तत्तन्मलरूपेण च। सारकिट्ट-विभागतः—यथा अन्नस्य रसधातुः सारः, विण्मूत्रं च किट्टम्। तद्वद् रक्तादि-धातूनामपि भवति। यदुक्तं "किट्टमन्नस्य विण्मूत्रमित्यादि" (च० चि० १५) अत्रार्थे चरकः—यथा "पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्रौजांसि"—इत्यादि (च० सू० २८ अ०) सुश्रुतश्चाह—"तत्रैषां धातूनामन्न-पानरसः प्रीणयिता" इति। ननु रसेन रसः कथं पुष्यति तर्हि किं रसद्वयमस्तीति चेद्, उच्यते आचार्यचक्रपाणिवचनेन—"एक एवायमाहाररसो द्विप्रस्थानः पोष्य-पोषकभेदेन; तत्र पोष्यो रसांशः सर्वशरीरचारी पोषकेन रसांशेन समानेन नित्यं पाकान्तरानपेक्षेणैवाल्पीयसा युज्यते, अवशिष्टस्तु रक्तादिपोषको रक्तं याति (सुश्रुतटीका० सूत्र० १४ अ०)। पराशरस्त्वाह—"आहारोऽद्यतनो यः श्वो रसत्वं स नियच्छति। शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि॥ मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे त्वियात्। मज्जत्वं, शुक्रतां यायान्नियमात् त्वष्टमे नृणाम्॥" इति (भानुमतीधृतवचनम्)। एतेनापि रसस्यैव साक्षात् सर्वधातुपोषकत्वमुक्तम्। अथ रक्तादिधातूनां सारकिट्टविभागस्तु धात्वग्निकृतपाकादेव भवतीत्युच्यते—क्रियन्ते धातुपोषाय इति। किट्टापसारणस्यापि धातुपोषसहायत्वात्। धात्वग्नयश्च रसादिशुक्रान्तधातुषु पृथक् पृथग् वर्त्तमानाः सप्तसंख्या विज्ञेयाः। यदुक्तं "सप्तभिर्देहधातारः" इत्यादि। तेऽपि कायाग्निवत् सूक्ष्मा एव फलानुमेयस्थितयः। फलं च तेषां रसस्य परिणमनेन तत्तद्धातुनिर्माणं किट्टपृथक्करणं च। पोषणं च पूर्वोक्तप्रकारद्वयेन। व्यायामशक्तेरुत्पादः पुनर्धात्वग्निभिर्धातुदहनादेव भवति, धातूनां तदिन्धनत्वात् इति पूर्वं प्रतिपादितम्।

ननु "रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते॥" इति सौश्रुतवचनदर्शनात् क्रमपरिणाम एव प्राचामभि-प्रेतः, तत् कथमुच्यते रसादेव युगपत् सर्वधातूत्पाद इति चेत्—उच्यते। त्रिविधं हि मतमत्रार्थे प्राचाम्, यथा भानुमत्यां चक्रपाणिः—"अत्र च रसाद् रक्ताद्युत्पादने केचिदिदं वदन्ति यत् रसोऽग्निपच्यमानो रक्ततां याति, रक्तं च मांसतामित्यादि पूर्व-पूर्वधातुपरिणामेणोत्तरोत्तरधातूत्पादः यथा—क्षीराद्दधि भवति, दध्नो नवनीतं नवनीताद् घृतमित्येकः पक्षः (क्षीरदधिन्यायः)। किंवा रस एव रक्तं प्लावयति, तत्र रक्तस्थानसम्बन्धाद् रक्तसादृश्यं रक्तव्यपदेशं चानुभवति, रक्तं च रक्तसमानेन स्तोकेनांशेन पोषयति, ततो रक्तमाप्लाव्य मांससादृश्यं मांसशब्दाभिधेयतां चानु-भवति। एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति, यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं

प्रत्यासन्नां केदारीमाप्लावयतीति द्वितीयः पक्षः। * * * (केदारीकुल्यान्यायः)। किंवा आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गैः स्थायिरस-रुधिर-मांसादीन् रसरुधिरादिसमानेनांशेन तर्पयति। तत्र यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको रसधातुस्तं शीघ्रं पुष्णाति; यस्तु विदूरधातुस्तस्य सूक्ष्मविदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति; एवं भिन्नैरेव मार्गैर्धातुपोषणं भवति; तेन रक्तपोषणकालादुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं पोषयति, तथा मांसपोषणादुत्तरकालं मेदःपोषको रसभागो मेदः पोषयति। तेन रसाद् रक्तमित्यादेरयमर्थो यद् रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं प्रवर्त्तते रक्तपुष्टिकालादुत्तरकालं मांसं प्रवर्त्तते इत्यादि। अस्मिंश्च पक्षे यदुक्तं--"विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः। स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्। (सु० सू० ४६ अ०)" इति, तथा—"तस्मिन् धातुमलानुसारिणि रसे" इति च मुख्यार्थं भवति, तथा चरकेऽपि "स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना।" (च० चि० अ ८) इति च मुख्यार्थं भवति। तेन यथा खले† उपचितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्न-विप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण वा गमनं भवति तद्वत्।" (खलेकपोतन्यायः) इति (सुश्रुत टीका० सूत्र० १४ अ०)। चक्रपाणिना चोक्तं तत्रैवाग्रे—"स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये" इति। सुश्रुतस्वरसश्चाग्रे तादृश एव स्पष्टतरः यथा—"स शब्दार्च्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।" इति (सु० सू० १४ अ०)। भावमिश्रश्चाह--"केदारेषु यथा कुल्याः पुष्यन्ति विविधौषधीः। तथा कलेवरे धातून् सर्वान् वर्धयते रसः॥" इति। सर्वात्मपरिणामवादस्तु कथमपि न सङ्गच्छते। खलेकपोतन्यायः पुनरस्मन्मते युगपत् कपोतानां खले पतनवद् रसेनैव युगपत् सर्वधातुपोषणमिति-कल्पनया व्याख्येयः। तथा च सामान्यलक्षणा-व्याख्यायां जगदीशधृतं प्राचीनवचनम्—"वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत् पतन्ति। तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति॥" इति। यौगपद्यं च चरकेऽप्यभिहितं कण्ठेन यथा--"व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥" इति (च० चि० १५ अ०)। एवञ्च युगपदेव रसधातुना सर्वधातुपोषणमिति मतं वयमुपादेयतमं मन्यामहे, यतः सर्वत्र जालकेभ्यः स्यन्दमानो लसीकारूपो रसो युगपदेव सर्वान् धातून् पुष्णातीति प्रत्यक्षपरीक्षासिद्धमेतत्। २३६।२४०॥

† खलं नाम तुङ्गवंशदण्डोपरि स्थापितं मञ्चाकारं नानादिग्देशागत-कपोतानां विश्रामस्थानम्।

तत्र कायाग्निविकृतेः प्रादुःषन्ति पृथग्विधाः।
महास्रोतोगता रोगा ग्रहण्याद्याः सुदुःखदाः ॥२४१॥
धात्वग्निविकृतेरन्ये मधुमेहादयो गदाः।
तेषां विभागान् विविधान् वक्ष्यामोऽतः परं क्रमात् ॥२४२॥

(कायाग्निदोषजा रोगाः)

कायाग्निदोषजा रोगाः प्रायेणाजीर्णमूलकाः।
अतीसारग्रहण्याद्या आमपक्वाशयाश्रयाः॥
आगन्तुहेतुकाश्चान्ये सन्ति रोगास्तदाश्रयाः।
कालातिसारप्रमुखाः प्रायः प्राणोपरोधिनः ॥२४३।२४४॥

तदेवं कायाग्नि-धात्वग्नीनां स्वरूपक्रियादिवैशिष्ट्यमभिधाय तद्विकृतिजान् रोगान् विवक्षुरुपक्रमते—**तत्रेति**। तत्र तेषु अग्निषु मध्ये कायाग्निविकृतेः जाठराग्निवैषम्याद् हेतोः पृथग्विधा नानाविधा महास्रोतोगता अन्नमार्गगताः सुदुःखदाः अत्यन्तदुःखप्रदाः ग्रहण्याद्याः रोगाः प्रादुःषन्ति प्रादुर्भवन्ति। अत्र च महास्रोतोगता इत्युपलक्षणम्। वस्त्यादिगतरोगाणामपि बहुशः कायाग्निविकृति-हेतुकत्वात्। २४१॥

अथ धात्वग्निविकृतिकृतान् रोगानुद्दिशति—**धात्वग्नीति**। धात्वग्नि-विकृतिश्च अकालाऽहिताऽमिताहारपरायणानाम् अन्नपानदोषोद्भवाद् रसदोषादेव भवति। तादृशश्च रसो रक्तमिश्रो न केवलं दुष्टधातून् उत्पादयति, प्रत्युत धात्वग्नी-नपि दूषयति। तथा दूषितैश्च धात्वग्निभिः धातूनां सम्यक् परिणामाभावात् मधु-मेह-वातरक्तादयो विविधा रोगाः प्रादुर्भवन्ति। तदुक्तम्—"घोरमन्नविषं च तत्। संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्॥ जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान्॥ यक्ष्म-पीनस-मेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम्। करोति वातसंसृष्टं वात-जांश्च गदान् बहून्॥ मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद् रोगान् रसादिजान्॥" इति (च० चि० १५ अ०)॥ २४२॥

अथ कायाग्निदोषजान् रोगानाह—**कायाग्नीति**। कायाग्निदोषजाः जाठराग्निविकारसम्भवा रोगाः प्रायेण अजीर्णमूलकाः अजीर्णसमुत्थाः। आमपक्वा-शयाश्रयाः, आमाशयाश्रिताः पक्वाशयाश्रिताश्च। अत्र पक्वाशयपदेन पच्यमाना-

अथ अजीर्णाधिकारः ।

(निरुक्तिः)

न जीर्यति सुखेनान्नं विकारान् कुरुतेऽपि च ।
तदजीर्णमिति प्राहुस्तन्मूला विविधा रुजः ॥ २४५ ॥

(निदानम्)

काले हित मितं चाद्यादित्याचार्याः प्रचक्षते ।
विपरीतमतो भुक्तं प्रायेणाऽजीर्णकारणम् ॥ २४६ ॥
असात्म्यमर्द्धपक्वं च यच्च सम्यङ् न चर्बितम् ।
स्नेहादिबहुलं चान्नं दुःखेन परिपच्यते ॥ २४७ ॥
पूति पर्युषितं वापि मत्स्य-मांस-पयो-दधि ।
विकारान् कुरुते घोरान् पानीयं यच्च दूषितम् ॥ २४८ ॥
विरेक-वमन-स्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
देशकालर्त्तुवैषम्यादप्यजीर्णस्य सम्भवः ॥ २४९ ॥
वेगसन्धारणात् क्रोधाच्छोकात् स्वप्नविपर्ययात् ।
अव्यायामात् तथात्यम्बु-पानाच्चान्नं न जीर्यति ॥२५०॥

शयोऽपि गृह्यते । अतीसार-ग्रहण्याद्याः रोगाः, भवन्तीति शेषः । आगन्तुहेतुकाश्च अन्ये कालातीसारप्रमुखाः आगन्तुहेतुश्च अन्नपाने घोरजीवाणुविषसंक्रमणम् । तदाश्रया आमपक्वाशयाश्रया एव । प्रायः प्राणोपरोधिनः बहुशः प्राणहारकाः रोगाः प्रादुर्भवन्ति । कालातिसारो नाम बङ्गेषु 'ओलाउठा' इति, अन्यत्र च 'हेजा' इति प्रसिद्धो घोरव्याधिरग्रे वक्ष्यते * । २४३।२४४ ॥

अथ प्रायः सर्वेषामेव रोगाणामजीर्णमूलकत्वादजीर्णरोगमेव प्रथमं विवक्षुस्तन्निरुक्तिमाह—**न जीर्यतीति** । अन्नं सुखेन न जीर्यति पाकं न गच्छति कायाग्निविप्लवादिहेतोरित्याशयः । विकारान् अम्लोद्गार-शूल-विष्टम्भादीन् ।२४५॥

अजीर्णनिदानमाह—**काल** इति । काले भोजनवेलायां, न कालमतिक्रम्य न चाप्राप्तकालमित्यर्थः । हितं पथ्यम्, यत् साधु जीर्यति सम्यक् पुष्णाति च धातून् । मितं मात्रावत्; नाधिकमात्रं नात्यल्पमात्रं वा अद्यात् भुञ्जीत । अत्रार्थे विस्तरस्तु

---

* न चायं विसूचिकैवेति भ्रमितव्यमित्यग्रे दर्शयिष्यते ।

(सम्प्राप्तिः)

तैस्तैर्हेतुभिरुद्रिक्तः कफः पित्तं मरुत् तथा।
कायाग्निं दूषयेत् तस्मादजीर्णमुपजायते ॥२५१॥
यैर्हि क्षाराम्लनिःस्रावैरन्नपानं विपच्यते।
अल्पाधिक्यादभावाद् वा तेषामन्नं न जीर्यति ॥२५२॥

चरके विविधाशितपीतीये (सूत्र० ५ अ०) मात्राशितीये (सूत्र० २८ अ०) चाध्याये, सुश्रुते च अन्नपानविधौ (सूत्र० ४६ अ०) द्रष्टव्यः। विपरीतम्, अकाले अहितममितं वेत्यर्थः। स्नेहादिबहुलमिति। तत्र स्नेहबहुलं घृततैलादिप्रचुरम्, आदिपदात् सर्षपादितीक्ष्णभूयिष्ठं च। दूषितम् दृश्यादृश्यमल-मूत्रादिसांकर्यात् रोगबीजाणु-संकुलम्। विरेको वमनं चेह भेषजप्रयोगेणैव। स्नेहः स्नेहपानम्, विभ्रमात् विरेकादिव्यापत्तेः। व्याधिकर्षणात् चिरन्तनरोगभोगेन कृशादुर्बलत्वादग्नेरपि दौर्बल्यात्। देशकालर्त्तूनां वैषम्यात् देशकालादीनां यः स्वभावः स चेत् यथायथं न प्रवर्त्तते विषमं वा प्रवर्त्तते तदा इत्यर्थः। वेगसन्धारणात् मलमूत्रादीनामिति शेषः। स्वप्नविपर्ययात् रात्रौ जागरणात् दिवसेऽतिस्वापाद्वा। अव्यायामाद् व्यायामस्य अकरणात्। २४६-२५०॥

अथ अजीर्णसम्प्राप्तिमाह **तैस्तैरिति।** तैस्तैः पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्निदानैः उद्रिक्तः प्रकुपितः कफः पित्तं वायुश्च कायाग्नि जाठराग्निं दूषयेत् विकुर्यात्, तस्माद् हेतोरजीर्णमुपजायते सम्भवति। तदेतत् सूक्ष्मतत्त्वाभिधानम्। स्थूलतस्तु ये ये तत्कृतविकाराः शरीरे यथा यथा सम्भवन्ति, तद् वर्णयति **यैरिति।** अन्नवहस्रोतसि निःसृतैः पूर्वोक्तैर्यैः क्षाराम्लनिःस्रावैरन्नपानं विपच्यते, तेषाम् अल्पा-धिक्याद्, अल्पत्वाद् आधिक्याद् वा, अभावाद् वा, अन्नं न जीर्यति न सम्यक् पच्यते। अत्रायं क्रमः—कफवृद्धौ क्लेदकश्लेष्मणो वृद्धिः, अम्लरसनिःस्रावश्च अल्पीयान्, क्षारनिःस्रावाश्च स्वाभाविकाः अल्पीयांसो वा कफवृद्धेस्तारतम्य-भेदेन। तेन अन्नस्य असम्यग् जरणात् भूरिश्लेष्ममिश्रत्वाच्च आमाजीर्णं सम्भवति। एवं पित्तवृद्धौ आमाशये अम्लनिःस्रावस्य आधिक्यम्, क्षारनिःस्रावाणां तु स्वाभाविकी प्रवृत्तिरल्पीयसी वा पित्तवृद्धेस्तारतम्यभेदेन। तेन विदग्धाजीर्णम्। वायुवृद्धौ पुनः सर्वेषां निःस्रावाणामल्पीयस्त्वात् ततश्च विलम्बेन अन्नस्य जरणाद-सम्यग्जरणाद् वा विष्टम्भाटोपादयः। तेन विष्टब्धाजीर्णं भवतीति तत्त्वम्। २५१।२५२॥

(अजीर्णभेदाः)

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्।
अजीर्णं दृश्यते प्रायो द्वन्द्वजं च कदाचन॥ २५३॥
अजीर्णमपरं केचिदिच्छन्ति रसशेषतः।
अथान्यदन्नविषजं घोरं प्राणोपरोधि यत्॥ २५४॥
दैनन्दिनमजीर्णं च प्राकृतं कैश्चदिष्यते।
न तद् रोगकरं प्रायो भुञ्जानस्य यथाविधि॥ २५५॥

सौश्रुतवचनानुवादेन अजीर्णभेदानाह **आममिति**। आममित्यादिपदत्रयमजीर्णस्य विशेषणम्। ननु कस्तादामपदार्थः, उच्यते—"उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥" (अष्टाङ्ग हृ० १३ अ०)। अत्र आमाशयगतमिति उपलक्षणं, तेन आमाशय-पच्यमानाशयगतमिति व्याख्येयम्, उभयोरपि दुष्टरसोद्भवात्। रसशेषतः आमरसावशेषात्। ननु आमाजीर्णस्य रसशेषाजीर्णात् को भेद इति चेद् उच्यते। "माधुर्य्यमन्नं गतमामसंज्ञम्" इति सुश्रुतोक्तेः श्लेष्मदूषितमपक्वमन्नमेव आमाजीर्णं जनयति। आमाशयादौ सम्यगपक्वस्य अन्नस्य सारभूतो यो दुष्टो रसः अथवा सम्यक् पक्वस्यापि भुक्तस्य सारो यो रसः स चेद् रसधात्वग्निना सम्यङ् न पच्यते तदासौ रसशेषाजीर्णं जनयतीति विशेषः। अन्नविषजमन्नोद्भवविषजन्यम्। प्राकृतमप्यजीर्णं दैनन्दिनं दिने दिने सम्यगन्नजरणावधि वर्त्तमानं कैश्चिदाचार्य्यैरिष्यते गणनीयमित्युपदिश्यते। वस्तुतस्तु अग्निबलानुसारेण यस्य यावता कालेनान्नं सम्यक् पच्यते तस्य तावदेव प्राकृताजीर्णम्। तच्च दुर्बलाग्नीनामेव विशेषाद् दृश्यते विलम्बितजरणात्। तच्च प्रायो न रोगकरमित्युक्तेः दुर्बलाग्नेर्नित्यं गुरुभोजनशीलस्य तदपि काले रोगकरं भवत्येवेत्यभिप्रायः। अत्रेदमवधेयम्—आमपदं लोके वैद्यके च विशेषणरूपं विशेष्यरूपं च दृश्यते। तत्र विशेषणरूपं यथा लोके आमान्नमित्यत्र, वैद्यकेऽपि क्वचिद् आमं शकृदित्यादौ। विशेष्यरुपं तु "माधुर्य्यमन्नं गतमामसंज्ञम्" इति सुश्रुतोक्तौ, "दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते" इत्यत्र च स्पष्टम्। आमज्वराजीर्णादिसंज्ञायां तु आमसंयुक्तमिति व्याख्येयम्। "आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः। सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (अष्टाङ्ग हृ० सूत्र० १३ अ) इत्युपदेशदर्शनात्। २५३-२५५॥

अथ अजीर्ण लिङ्गानि ।

(तत्र आमाजीर्णम्)

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः ।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्त्तते ॥ २५६ ॥

(विदग्धाजीर्णम्)

विदग्धे भ्रम-तृण्मोहाः पित्ताच्च विविधा रुजः ।
उद्गारश्च सधूमाम्लः कण्ठहृद्दाहकारकः ॥२५७॥

(विष्टब्धाजीर्णम्)

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः ।
मलवाताऽप्रवृत्तिश्च पिण्डिकोद्वेष्टनादि च ॥२५८॥

(अजीर्णसङ्कराः)

मिश्राणामथ लिङ्गानां दर्शनान्मतिमान् भिषक् ।
सङ्करांस्तु विजानीयादजीर्णस्य पृथक् पृथक् ॥२५९॥

आमाजीर्णमाह **तत्रेति** । आमे आमाजीर्णे । गुरुता गात्राणां गौरवम् । यथाभुक्तं भुक्तद्रव्यसमगन्धिः । अविदग्धः, अनम्लः ईषदम्लो वा उद्‌गारः । २५६ ॥

विदग्धाजीर्णमाह **विदग्ध** इति । विदग्धे विदग्धाजीर्णे भ्रमश्चक्रारूढ़-स्येवानुभवः । तृट् तृष्णा । मोहः मूढ़ता, क्वचिन्मूर्च्छापि । सधूमाम्लः धूमनिर्गम-वदनुभवयुक्तः अम्लरसविशिष्टश्च उद्गारः । हृद् हृत्प्रदेशः न तु हृदयम्, असम्भवात् ।२५७।

विष्टब्धाजीर्णमाह **विष्टब्ध** इति । विष्टब्धे विष्टब्धाजीर्णे विविधा वात-वेदनाः तोद-भेदादयः । मल-वातयोरप्रवृत्तिः सम्यग् निःसरणाभावः । पिण्डिको-द्वेष्टनं, जङ्घयोः पिण्डिकाख्यपेश्याः निष्पीड़नवद् वेदना, आदिशब्देन क्वचिदुत्क्लेश-हृद्ग्रहादि च । २५८ ॥

अजीर्णसंकरानाह **मिश्राणामिति** । मिश्राणामिति द्वन्द्वजानामित्यर्थः । यद्यपि प्राचां ग्रन्थेषु अजीर्णसङ्करा नाभिहितास्तथापि लोके मिश्रलिङ्गाऽजीर्णदर्शनात् अजीर्णसङ्करा इहाभिधीयन्ते । तेषु च आमविष्टब्धं विदग्धविष्टब्धं चेति अजीर्णद्वयं प्रायोदृष्टम् । आमविदग्धं तु क्वचिदेव दृश्यते । २५९ ॥

(रसशेषाजीर्णम्)

उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥२६०॥

(प्राकृताजीर्णम्)

अन्नं भुक्तं यथार्हं हि यावता यस्य पच्यते।
अजीर्णं प्राकृतं तावद् यस्य वह्निबलं यथा ॥२६१॥

(अजीर्णोपद्रवाः)

भ्रमो मोहो ज्वरश्छर्दिः शूलश्चालसकस्तथा।
अतीसारश्च सप्तैते अजीर्णोपद्रवाः स्मृताः ॥२६२॥
प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतः सशूलोऽलसको हि सः ॥२६३॥
दारुणोपद्रवो ह्येष पशूनां प्राणहारकः।
मानुषाणां क्वचिद् दृष्टः पशुवद् बहुभोजिनाम् ॥२६४॥

रसशेषाजीर्णमाह **उद्गारेति** सौश्रुतवचनेन। भक्तकांक्षा बुभुक्षा। हृद्गुरुता हृत्प्रदेशे गौरवानुभवः, न त्वामाशये विष्टब्धता। यावद् गात्रेषु गौरवमपि। सप्रसेकं लालाप्रसेकसहितम। नागार्जुनवचनञ्चात्र (विजयरक्षितधृतम्)— "उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते कांक्षा न भक्तादिषु, स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजाः कृत्वा शिरोगौरवम्। मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनर्हृल्लासज्वर-मूर्च्छनादि च भवेत् सर्वामयक्षोभणम् ॥" इति २६० ॥

प्राकृताजीर्णमाह **अन्नमिति**। यथार्हं यथायोग्यं भुक्तं यावता कालेन, यस्य पच्यते तस्य तावत्कालावस्थायि प्राकृताजीर्णम्। तच्च क्वचिद् रोगान्तर-कारणमिति तल्लक्षणमुक्तम्। कालपरिमाणनिरूपणाय चाह यस्य वह्निबलं यथेति। दुर्बलाग्नेश्चिराय प्राकृताजीर्णं भवतीति भावः। २६१ ॥

अजीर्णोपद्रवानाह—**भ्रम** इति। भ्रमश्चक्रारूढस्येवानुभवः। मोहः प्रमूढ-वदवस्थानं, कचिन्मूर्च्छापि, छर्दिः वमनम्। अलसकः अन्नस्य अलसजनवत् चिरायावस्थानमन्नमार्गे। अलसकरोगस्तु स एव घोररूपः। २६२-२६४ ॥

(अजीर्णशान्तिलक्षणम्)

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥२६५॥

अथ अतीसाराधिकारः।

(निरुक्तिः)

अतीव सरणं यत्र सोऽतीसारो निगद्यते।
विड्भेदः प्रायशो ह्यत्र जलवद् भूरि वाल्पशः ॥ २६६॥
स्वयंव्याधिरतीसारो लिङ्गं रोगान्तरस्य वा।
उपद्रवो वेति भिषग् विवेक्तुं सम्यगर्हति ॥२६७॥

(निदानम्)

अजीर्णात् स्यादतीसारः क्वचिदन्नविषादपि।
ग्रहणीदुर्बलत्वाद् वा भयाच्छोकात् क्रिमेरपि ॥२६८॥

अजीर्णशान्तिलक्षणमाह—**उद्गारेति**। उद्गारशुद्धिः अम्लधूमकादिरहितस्य उद्गारस्य ईषत्प्रवृत्तिः। उत्साहः उद्योगिता। यथोचितः यथाभ्यस्तः। वेगोत्सर्गः मलवातादीनामिति शेषः। लघुता उदरस्य गात्राणां च लाघवम्। क्षुत् बुभुक्षा पिपासा च यथोचितैव इति। २६५॥

अथाजीर्णप्रभवत्वादतीसारस्य तमेव वर्णयितुं प्रवृत्तस्तन्निरुक्तिमाह **अतीवेति**। अतीव सरणं भूयोमलनिर्गम इति निरुक्तिः। तत्र विशेषमाह विड्भेद इति। अत्र हि प्रायशो जलवद् भूरि वा अल्पशो वा विड्भेद इति। प्रायश इत्युक्तेः स्वल्पं स्वल्पं नातितरलमपि शकृद् यत्रातिसार्यते सोऽप्यतीसारः, अन्यथा प्रवाहिकायामतीसारसंज्ञा न स्यात्। अत्रापि विशेषज्ञेयोपदेशः—स्वयंव्याधिरिति। स्वयं स एव व्याधिः, न तु इतरव्याधिलक्षणम्। रोगान्तरस्य लिङ्गं लक्षणं वा, यथा ग्रहण्यादौ। रोगविशेषस्य उपद्रवो वा यथा यक्ष्मादेश्चरमावस्थायाम्। तदेतद् विवेचनीयं भिषजा सम्यङ्निदानशास्त्रविदा इति। २६६।२६७॥

निदानमाह—**अजीर्णादिति**। अजीर्णादतीसारः प्रभवति इत्येको हेतुः। अन्नविषादपि अन्नोद्भवविषस्य शरीरे संक्रमादिति द्वितीयो हेतुः। ग्रहणीदुर्बलत्वात् अग्न्यधिष्ठानस्य बलहीनत्वात्, अग्निबलाल्पत्वादित्यर्थः सोऽयं तृतीयो हेतुः। भयात् शोकात् क्रिमेरपि इत्यपरं हेतुत्रयम्। क्रिमिजन्यातीसारः पुनरपि क्रिम्यधिकारे वर्णनीयः॥ २६८॥

विषेणागन्तुना वापि भुक्तपानीयदूषणात्।
सहसा कालवैषम्याद् वाऽप्यतीसारसंभवः ॥२६९॥

(सम्प्राप्तिः)

अर्द्धपक्वं हि तरलं शकृदन्त्रेषु तिष्ठति।
त्वरया सार्यते तच्चेत् सामान्यात् सोऽतिसारकः ॥२७०॥

आप्यो धातुः शोणितस्यान्त्रमध्ये
परिस्रुतो जालकेभ्यः प्रभूतः।
स्रवेद् यदा विड्विमिश्रोऽन्यथा वा
सोऽतीसारो दारुणो धातुशोषी ॥ २७१ ॥

(दोषानुसारेण अतीसारलिङ्गानि)

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुः शकृत्।
मारुतेन सरुक्शब्दं, पित्ताद् दाहतृषायुतम्। (२७२)

अपरं च विशिष्टनिदानमाह—**विषेणेति**। आगन्तुना विषेण सितमल्लादिरूपेण कालातिसारादिजनकजीवाणुविषरूपेण च—इति हेतुद्वयमागन्तुपदेन गृह्यते। अन्नविषतः पृथक्त्वादस्य पृथग् ग्रहणम्। अन्नविषं हि विरुद्धाशनादिहेतोः स्ववस्तुसन्धानजन्यम्, सुरासन्धानवत्। अत्र तु आगन्तुकं विषमिति विशेषः। भुक्तपानीयदूषणात् अन्नपानस्य तद् दूषितत्वात्। सहसा कालवैषम्याद् इत्यपरो हेतुः। कालवैषम्याच्च ऋतुविपर्ययाद्वा, शीतदेशादत्युष्णदेशगमनाद् वा। एवं हेतुवैचित्र्यात् नानाविधातीसाराणां सम्भवः। २६९ ॥

अतीसारसम्प्राप्तिमाह—**अर्द्धपक्वमिति** श्लोकद्वयेन। सार्यते अधस्तात् निःस्राव्यते। शोणितस्य आप्यो धातुर्लसीका, स यदा अन्त्रमध्ये जालकेभ्यः सिराधमनीप्रतानजालेभ्यो लसीकाख्यतन्वच्छरसस्राविभ्यः, न तु रसांकुरिकाभ्यः। रसादानं तु घोरातिसारे सर्वथाऽवरुध्यते प्रायः—इत्यत्रावधेयम्। विड्विमिश्रो मलयुक्तः। अन्यथा वा, विड्रहितो वा। स्रवेत्, निःसरेत्। तदा स तादृशोऽतीसारः। दारुणः कष्टसाध्यत्वात्। धातुशोषी रक्तादिधातूनां शोषणकारी, आप्यभागस्य भूम्ना निर्हरणात्। यथा—कालातिसारे वक्ष्यमाणे। २७०।२७१ ॥

अतीसारलिङ्गान्याह—**अरुणमिति**। अरुणं रक्ताभं, न तु सरक्तम्

---

१ अतीसारः, अतिसारः—इति द्विविधमपि रूपं साधु। स च डायेरिया (Diarrhoea) नाम्ना प्रसिद्धः।

पीतं हरिद् वा सास्रग् वा, सान्द्रमामयुतं कफात्।
द्वयोर्द्वयोश्च लिङ्गैस्तान् द्वन्द्वजान् निर्दिशेद् भिषक्॥२७३॥

स्निग्धं मांसाम्बुसङ्काशं नानावर्णरुजान्वितम्।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद् दोषत्रयोद्भवम्॥ २७४॥

(अतीसारस्य सामता-निरामताविवेकः)

द्विविधः स्यादतीसारः सामो वाथ निरामकः।
सामः साटोप-विष्टम्भ-पूतिविट्कोऽपरोऽन्यथा॥२७५॥

मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनातिद्रव-संघात-शैत्य-श्लेष्मप्रदूषणात्॥ २७६॥

फेनिलं फेनवत्। सरुक्शब्दं रुजाशब्दाभ्यां युक्तम्। इति वातातीसार लिङ्गानि दाहो गात्राणां, गुदस्य च विशेषेण। सास्रक् ईषद्रक्तसहितम्। भूरिरक्तन्तु क्षतादेव स्रवति। क्षतसम्भवश्च प्रायोव्रणशोथात्, व्रणशोथश्च भूम्ना पित्तकोपजः। सान्द्रं घनमित्यादि तु कफात्। त्रिदोषातिसारमाह **स्निग्धमिति**। स्निग्धं वसायुतम्, मांसाम्बुसङ्काशं मांसधावनतोयाभम्। नानावर्णान्वितं कदाचित् श्वेतं, कदाचित् पीतं हरिद्वर्ग वा, कदाचित् सरक्तमित्यर्थः। नानारुजान्वितं शूल-परिकर्त्तिकाटोपादि सहितम्॥ १७२।२७४॥

अतीसारस्य प्रधानभेदद्वयमाह **द्विविध** इति। स हि साम-निरामभेदेन द्विविधः, द्वेधा परीक्षार्हश्च। तत्र सामलक्षणमाह—साम इति। आटोपो गुड़गुड़ाशब्दः। विष्टम्भो जठरस्य स्तब्धता। पूतिविट्कः दुर्गन्धिमलयुक्तः। अपरो निरामः। अन्यथा, पूर्वोक्तलिङ्गरहित। सामनिरामातिसारयोः सामान्य लक्षणमभिधाय परीक्षाविशेषमाह—**मज्जतीति**। आमा विट्, अपक्वान्न पानादिजं पुरीषम्। गुरुत्वात् सारवत्त्वाद् हेतोः, जले क्षिप्ता मज्जति, निमग्ना भवति। पक्वा तु उत्प्लवते, निःसारत्वात् जले तरतीत्यर्थः। अत्र चापवादानाह **विनेति**। अतिद्रवात्, अतिसंघातात्, अतिशैत्यात्, श्लेष्मप्रदूषणात् च—इति हेतुचतुष्टयाद् विना। अत्र अतीति विशेषणं द्रवादिपदत्रयेण योज्यम्। श्लोकार्धं चैतत् यथानुभवं व्याख्येयम्। तद्यथा—अतिद्रवं पुरीषमाममपि उत्प्लवते। अतिसंघातवत् पक्वमपि मज्जति। अतिशैत्ये जलस्य मलस्य वा आममपि प्लवते। श्लेष्मप्रदूषणात् आमाधिक्याच्च प्लवते—इति। यत्तु शकृतो जले निमज्जनमरिष्ट-लक्षणमुक्तं चरके यथा—"निष्ठ्यूतञ्च पुरीषञ्च रेतश्चाम्भसि मज्जति। यस्य

(अन्नविषजातिसारः)

तीव्रातिसारो वमथुश्च भूम्ना
शूलः कदाचिन्नियतं ज्वरश्च।
मोहो भ्रमश्चापि तृषा विशेषा-
ल्लिङ्गानि भुक्तोत्थविषातिसारे ॥२७७॥

(विषभक्षणजातिसारः)

विषैश्च सितमल्लाद्यैरन्नपानप्रयोजितैः।
प्रायो लिङ्गानि तान्येव शूलो रक्तस्रवस्तथा ॥२७८॥

(क्रिमिदोषजातिसारः)

कदाचित् क्रिमिदोषेणाप्यतीसारः प्रवर्त्तते।
सरक्तो वाप्यरक्तो वा सशूलपरिकर्त्तिकः ॥२७९॥

तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः" इति (च० इं० ६ अ०), तत्र निष्ठ्यूतादित्रयस्य युगपत् निमज्जनमभिप्रेतमाचार्याणाम्, चकारत्रयेण यौगपद्यसूचनात्। पुरीषमात्रस्य निमज्जनन्तु कष्टसाध्यलक्षणमपि नारिष्टलक्षणम्। २७५।२७६ ॥

अन्नविषजातीसार[1]लिङ्गमाह **तीव्रेति**। तीव्रातीसारो भूरि मुहुश्च जलवद् विट्प्रवृत्तिः। वमथुः वमिः। शूलः कदाचित्, न तु प्रायः। ज्वरस्तु नियतमेव दृश्यते। मोहः प्रमूढवद्भावः। भ्रमश्चक्रारूढवदनुभवः। विशेषादिति मोहादित्रयं प्रायिकविशिष्टलिङ्गमित्यभि प्रायः। २७७ ॥

विषभक्षणजातीसारमाह **विषैरिति**। सितमल्लाद्यैः[2] संखियादिभिर्विषैः। अन्नपानप्रयोजितैः, शत्रुभिरन्नपानाभ्यां सह प्रयुक्तैः। तान्येवेति अन्नविषजातीसारवदेव लिङ्गानि। विशेषतस्तु शूलः, उदरे तीव्ररुजा। रक्तस्रवः रक्तमिश्रोऽतिसारश्च। स च सहसाऽऽन्त्रक्षतोत्पत्तेरित्यवधेयम्। २७८ ॥

क्रिमिदोषजातीसारमाह **कदाचिदिति**। परिकर्त्तिका उत्तरगुदे तदूर्ध्वं वा बृहदन्त्रे कर्त्तनवत् पीड़ा। विषजातिसारे तु समग्रेऽप्युदरे तीव्रा रुजः, न तु परिकर्त्तिकामात्रम् इति प्रायिको विशेषः। शूलस्तु अन्त्रेषु क्रिमिदंशनसञ्चरणादि हेतोः, क्षतोत्पत्तिश्च कदाचित् तत एव ॥ २७९ ॥

---

१ Ptomaine poisoning. २ सितमल्लः—'सेंको' विष, 'संखिया' (Arsenic)—इत्यादि नामभिः प्रसिद्धो लोके। आदिपदेन हरिताल-करवीरफलादि विषाणि।

(रक्तातिसारः)

रक्तस्रवस्य भूयस्त्वे रक्तातीसार उच्यते।
अन्त्रक्षणनहेतोश्च रक्तं तत्र प्रवर्त्तते ॥२८०॥
क्षतोत्पत्तिर्हि या तत्र सा पित्तलनिषेवणात्।
प्रवाहिकादिजीवाणुप्रभावाद्वा विशेषतः ॥२८१॥
आन्त्रिके च ज्वरे क्वापि भूयिष्ठो रक्तनिःस्रवः।
स प्रायः प्राणहरणो मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥२८२॥

(मानसहेतुजातिसारः)

भयशोकभवौ ज्ञेयावतीसारौ तु वातिकौ।
क्वचिद्रक्तस्रुतिश्चात्र स्यादन्त्रक्षतसम्भवात् ॥२८३॥

(ग्रहणीदौर्बल्यजातिसारः)

जीर्णज्वरादिमुक्तस्य ग्रहणीदौर्बले सति।
भुक्तमात्रमतीसारो नातिसान्द्रः प्रवर्त्तते ॥२८४॥
स नातिदोषलो ज्ञेयः, प्रायः काले स शाम्यति।
उपेक्षितस्तु कुरुते कदाचिद्ग्रहणीगदम् ॥२८५॥

रक्तातीसारमाह **रक्तस्रवस्येति**। भूयस्त्वे प्राचुर्यम्। तेन किञ्चिन्मात्ररक्तमिश्रशकृद्दर्शनमात्रेण न रक्तातीसारसंज्ञा वाच्या। रक्तं च तत्र कुतः सम्भवति इत्याह अन्त्रक्षणनहेतोरिति। अत्र अन्त्रपदेन क्षुद्रान्त्र-बृहदन्त्रयोर्ग्रहणं, तत्रापि बृहदन्त्रादेव विशेषेण रक्तस्रुतिः प्रवाहिकादौ प्रायः। क्षुद्रान्त्रतोऽपि च क्वचिदान्त्रिकज्वरादौ। यस्तु रक्तनिःस्रवो रक्तार्शोभ्यो जायते स गाढ़मलोपरि लेपवद् दृश्यः, शकृन्मिश्रो वा शकृतस्तारल्ये, स रक्तातिसार इति न वाच्यः। रक्तातिसारे हि क्षतोत्पत्तिरेव रक्तस्रुतेः कारणम्। क्षतोत्पत्तिश्च पित्तलानां द्रव्याणां निषेवणात् प्रायः यथा अम्लपित्तादौ। विशेषतः प्रवाहिकादिकरजीवाणुप्रभावाद् वा। अपरञ्च रक्तस्रावहेतुमाह—आन्त्रिके वेति। आन्त्रिकज्वरे हि क्षुद्रान्त्राणामन्त्यभागे उण्डुकान्तर्वा क्षतोत्पत्तिः, सा यथास्थाने वर्णितपूर्वा। २८०-२८२॥

अथ मानसहेतुजमतीसारमाह—**भयशोकेति**। एतौ क्वचिदेव दृश्येते। रक्तस्रुतिश्चात्र क्षतोत्पत्तिहेतोः, तत्कारणं तु दुःशकं निर्णेतुम्। २८३॥

ग्रहणीदौर्बल्यजातीसारमाह—**जीर्णेति**। ग्रहणीदौर्बले, ग्रहण्यास्तदाख्य-

अथ प्रवाहिका ।

(Dysentery)

(निरुक्तिः)

प्रवाहमाणस्य भृशं सहामं
विशोणितं वापि सशोणितं वा ।
स्वल्पं मुहुर्यस्य शकृन्निरेति
प्रवाहिका तस्य हि संप्रवृत्ता ॥२८६॥
प्रवाहिकैव भोजाद्यै र्विस्रंसीति निगद्यते ।
सैव निश्चारको नाम हारीतादिनये स्मृता ॥२८७॥

कलायाः, यावत् क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागस्य च तदाख्यस्य दुर्बलत्वे । तथाचोक्तं—"षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था, सा अन्तरग्न्यधिष्ठानतया आम-पक्वाशययोर्मध्ये[1] चतुर्विधमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति, पक्वं च विमुञ्चति । दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव । ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणीसंज्ञा ।" इति (अष्टाङ्ग संग्रह० शा० ५ अ०) । शारीरे तु ग्रहणीपदं द्वादशाङ्गुले क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागेऽपि प्रयुज्यते, "ग्रहणी द्वादशांगुला" इत्यभिधानात् । २८४।२८५ ॥

अथ प्रायेण घोररूपत्वात् चिरकालानुवन्धित्वाच्च अतीसारभेदं प्रवाहिकां पृथगेवाह—**प्रवाहमाणस्य** इति । यस्य पुरुषस्य शकृत् मलं स्वल्पम् अभूरि मुहुर्वारं वारं सहाममामेन श्लेष्मवत्स्निग्धशुभ्रवस्तुना सहितम् निरेति निर्गच्छति, तस्य प्रवाहिका सम्प्रवृत्तेति जानीयात् । प्रवाहणं नाम कुन्थनम्, तच्च अवरुद्ध-मलस्य निःसारणाय श्वासनिरोधपूर्वकमुदर्यपेशीनां दृढसङ्कोचनम् । प्रवाहमाणस्य तादृशीं चेष्टां कुर्वतः इत्यर्थः । ननु मलकाठिन्ये प्रवाहणमस्तु, मलतारल्ये तु कथं तदिति चेत्, शृणु । उत्तरगुदभागे तदूर्ध्वं वा व्रणशोथस्य क्षतस्य वा सम्भवात सम्भवत्येव प्रवाहणमन्यत्रापि मलकाठिन्यादित्यग्रेऽभिधास्यते । अतएवाह विशोणितं वापि सशोणितं वा इति । व्रणशोथमात्रसम्भवे विशोणितं रक्तवर्जितम्, उत्तरगुदादौ क्षतसम्भवे तु सशोणितम्—इति विशेषः । २८६ ॥

अथ प्रवाहिकापर्यायानाह—**प्रवाहिकैव** इति । विस्रंसी, विस्रंसयति

---

१ अत्र मध्ये अभ्यन्तरे, नत्वन्तराले इति व्याख्येयम्, अन्यथा सङ्गतार्थाऽसम्भवात् ।

(निदानम्)

विबन्धादतिरूक्षोष्ण-स्निग्धभक्ष्यनिषेवणात्।
वेगसन्धारणाद् वापि विरेकव्यापदोऽपि वा ॥२८८॥
विशेषाद् दुष्टजीवाणुसंक्रमाच्च जलादिना।
प्रवाहिका प्रजायेत स्वल्पा घोराऽथवा नृणाम् ॥२८९॥

गुदभागं गुदभ्रंशादिना इति सेयं संज्ञा। निश्चारयति आमं रक्तञ्चेति निश्चारकः[1]। भोज-हारीत-सुश्रुतादिषु पृथगेव प्रवाहिकावर्णनम्, चरके तु प्रवाहिका भंग्यन्तरेण वर्णिता यथा—"आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। सशूल-पिच्छ-मल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम्॥" इति (च० चि० १९ अ०)। पराशरमतेन तु 'अन्तर्ग्रन्थि' संज्ञकोऽयं रोग इति विजयरक्षितः। तत् क्षतानां ग्रन्थिसादृश्यात्।

अथ प्रवाहिकानिदानमाह **विबन्धादिति**। विबन्धो मलस्य सम्यग-प्रवृत्तिः कष्टप्रवृत्तिर्वा। अतिरूक्षस्य सर्वथा स्नेहवर्जितस्य, अत्युष्णस्य, तथा अति-स्निग्धस्य भूरिस्नेहयुक्तस्य। भक्ष्यस्य, आहार्यस्य निषेवणात् विशेषेणोपयोगात्। वेगसन्धारणाद् वाऽपि। अत्र शकृद्वेगस्य सन्धारणमेव विशेषादभिप्रेतम्। विरेक-व्यापदः, विरेचनभेषजस्य व्यापन्नकार्यत्वात्। यदा सम्यग् विरेचनं न भवति, मुहु-र्मुहुः स्वल्पं स्वल्पं सपरिकर्त्तिकं च अतिसार्यते, तदा—इत्यभिसन्धिः। तदेतत् निदानत्रयं सामान्येनाभिधाय विशिष्टनिदानमाह **विशेषादिति**। द्विविधा हि दुष्टजीवाणवो घोररूपं प्रवाहिकारोगं जनयन्ति—इति नव्यपरीक्षकाणां सिद्धान्तः। ते चाहुः—प्रवाहिका प्रायेण जीवाणुविशेषजन्या, तत्र एकविधायाः प्रवाहिकाया अन्त्रचराः जङ्गमजीवाणुकोषरूपाः[2] क्रिमयः कारणम्, ते च दुष्ट-पानीयसञ्चारिणः प्रायः। अन्यस्तु प्रवाहिकारोगः शीगादिपरीक्षकाविष्कृतैः अति-सूक्ष्मसूत्राकारैः[3] स्थावरजीवाणुविशेषैर्जन्यते, तैः खाद्यपानीयदूषणात्—सोऽतीव दुश्चिकित्स्यः। तत्राद्ये रक्तस्रावो विशेषेण प्रवर्त्तते, प्रशाम्यति च स कुटजादि[4]-भेषजप्रयोगेण। द्वितीये तु दाह-ज्वर-मोहादिसहितानि लिङ्गानि, न च तत्र त्वरयोपशमः प्रसिद्धगुणैर्भेषजैरिति विशेषः। अस्ति चान्यैरपि कैश्चिद् दृश्या-दृशक्रिमिभिः कृतोऽयं रोगः—इत्यपीह स्मर्त्तव्यम्। तत्र च सामान्यनिदानात् प्रवृत्ता-ऽल्पलिङ्गा प्रवाहिका स्वल्पा, विशिष्टनिदानात्तु घोरा दारुणरूपा—इति विशेषः।

---

१ क्वचित् "निःसारकः" इत्यपि पाठः। २ Entamœba Histolylica. ३ Shiga & Flexner Bacilli. ४ आदि पदेन 'एमेटिन्' प्रभृति भेषजानि।

(सम्प्राप्तिः)

प्रायशो बृहदन्त्रान्तः क्षुद्रान्त्रांशेषु वा क्वचित्।
व्रणशोथात् क्षतोत्पत्तेः प्रवर्त्तेत प्रवाहिका ॥२९०॥
कला मांसवृतिश्चात्र गभीरक्षतसम्भवे।
स्रवेतां रक्तपूयं हि विशीर्य्येते च खण्डशः॥
छिद्रान्त्रं वा भवेत् क्वापि तदसाध्यं प्रचक्षते ॥२९१॥
प्रवाहिका तु प्रायेण चतुर्दोषकृता भवेत्।
पित्तश्लेष्मासृगनिलाः प्रकुप्यन्तीह यद् भृशम् ॥२९२॥

अत्रेदमवधेयम्। अजीर्णादिसातत्ये सति, अथवा क्षयादिरोगाणां चरमावस्थायामन्त्राणां दुर्बलत्वहेतोः क्षेत्रसम्पत्तिलाभात् ते ते जीवाणवः स्वप्रभावदर्शिनो भवन्तीति तेषां कारणता गौणी, तथापि शस्योत्पत्तौ बीजवत् कारणतास्ति। २८८।२८९॥

अथ प्रवाहिकासम्प्राप्तिं सद्योमृतपरीक्षामूलामाह—**प्रायशः** इति। बृहदन्त्रान्तः, तदन्तरीयकलायां, यावत् तन्निर्मापकमांसमयवृत्त्याश्च काले। क्वचित् क्षुद्रान्त्राणामंशेषु च तादृशेष्वेव बृहदन्त्रसन्निधौ। व्रणशोथात पाकोन्मुखभावात्। सेयं प्रथमावस्था क्षतोत्पत्तेः, व्रणशोथस्य पाकेन क्षतसम्भवात्। क्षतसम्भवस्तु द्वितीयावस्था। अत्र चायं विशेषः स्मर्त्तव्यः। व्रणशोथमात्रोत्पत्तौ शूलः, आमबहुलः स्रावश्च, क्षतोत्पत्तौ तु पूयरक्तभूयिष्ठः स्रावः इति। इदमेव सविशेषमाह—**कला**—इति। अन्त्रान्तरीयकला कोषेयवस्तुसदृशी अन्त्रान्तरावरणी, सा तद्वेष्टनी मांसमयी वृतिश्च रक्तपूयं स्रवेतां। गभीरतरक्षतसम्भवावस्थां वर्णयति—विशीर्य्येते चेति। विशीर्णीभूय कृष्ण-दुर्गन्ध-कुणपमांसखण्डवत् निःसरतः इति भावः। ततो हेतोः क्वचित् छिद्रान्त्रता[1], अन्त्रप्राचीरे छिद्रसम्भवश्च भवति। तदसाध्यं प्रचक्षते, कथयन्ति तत्त्वविदः, उदर्यमहागुहायां रक्तपूयप्रवेशेन मारकत्वात्, अकस्मात् शीताङ्गतासम्भवाच्च॥ २९०।२९१॥

अथैवं दूष्यविकृतिमूलां सम्प्राप्तिमभिधाय दोषविकृतिमूलां सम्प्राप्तिमाह **प्रवाहिकेति**। तु इति भिन्नक्रमे। प्रायेण—इत्युक्तेः एकदोषजा द्विदोषजा त्रिदोषजा च प्रवाहिका क्वचिद् भवतीति सूच्यते। तथा च सुश्रुतः—"प्रवाहिका

---

१ Perforation into peritoneal Cavity.

(प्रवाहिका लिङ्गानि)

विबन्धमतिसारं वा पुरस्कृत्य मुहुर्मुहुः।
सविट्सङ्गं शकृत् सामं सान्द्रं सपरिकर्त्तिकम्। (२९३)
तृड्दाह-ज्वरसंयुक्तमीषद्रक्तयुतं तथा।
आमं वा केवलं शुभ्रं त्यजेन्निश्चारकी भृशम्।
स्वल्पप्राहिका सेयमारोग्यं प्रायशस्ततः॥२९४॥
अथैतैः सह लिङ्गैश्चेद् रक्तं भूर्यतिसार्यते।
दौर्बल्यं वर्द्धते नित्यमन्त्रमांसञ्च शीर्यते। (२९५)

वातकृता सशूला, पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च। सशोणिता शोणितसम्भवा च, ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु"॥ इति। सेयं स्वल्पा नाम। दारुणा प्रवाहिका तु चतुर्दोषप्रभवा, तत्तद्दोषलक्षणानां क्रमेण युगपद् वा प्रादुर्भावात्। सुश्रुतोक्तनयेन दोषचतुष्टयदुष्टिदर्शनाच्च। अतएवोक्तं चतुर्दोषकृता इति। यत्तु तत्रैव सामान्य लक्षणम्—"वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य"—इति तदपि दोषद्वयदुष्टिमभिधत्ते। तस्मात् स्वल्पा प्रवाहिका एक-द्विदोषजा, दारुणा तु सर्वदोषजा—इति प्रकारद्वयमुच्यतेऽस्माभिः। विजयरक्षितस्तु आधिक्येन व्यपदेशं स्वीकृत्य एकदोषजत्वं तद्दोषोल्वणत्वमिति व्याचष्टे, अतस्तेनापि द्विदोषजत्वं बहुदोषजत्वञ्च उरीकृतमेव। अथ चतुर्दोषजत्वं स्पष्टीकरोति—पित्त-श्लेष्माऽसृगनिलाः इति। यद् यतः, इह घोरप्रवाहिकायां पित्तं, श्लेष्मा, असृग् रक्तं, अनिलो वायुश्चेति सुश्रुताभिमताश्चत्वारोऽपि दोषाः प्रकुप्यन्ति प्रकोपमापद्यन्ते भृशमत्यर्थमिति। २९२॥

विबन्धमिति। पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा। मुहुर्मुहुरिति बहुवारं कदाचिदसंख्यवारमपि। साममिति पिच्छाबहुलम्। सान्द्रं नवनीतवत् श्लेष्मवद् वा। निश्चारकी प्रवाहिकार्त्तः। आमं वा केवलमिति मल-रक्तरहितमित्यर्थः। प्रकारान्तरञ्चैतत् प्रवाहिकायाः। सेयं स्वल्पप्रवाहिका नातिकष्टसाध्या। अथ घोरप्रवाहिकामाह— **अथैतैरिति।** एतैः पूर्वोक्तैर्ज्वरादिभिर्लक्षणैः सह यदि भूरिशोणितस्रावः, भूयो गात्रसदनं, कुथितमांसबहुलञ्च शकृत् तदाघोरेयं प्रवाहिका।

कुणपं भृशदुर्गन्धि शकृच्चास्य प्रवर्त्तते।
प्रवाहिका तदा घोरा म्रियन्ते बहवस्ततः॥२६६॥
सम्यक् चिकित्सया येषामारोग्यमिव दृश्यते।
प्रायेण गूढं तिष्ठन्ति क्षतान्यन्त्रेषु तादृशाम्॥२६७॥
जीर्णप्रवाहिका तेषां चिरकालानुबन्धिनी।
काले काले प्रवर्त्तेत नित्यं वा ग्रहणी यथा॥२६८॥
गुदभ्रंशश्च केषाञ्चित् काले भवति दारुणः।
गुदबन्धनशैथिल्याद्, बालानां स विशेषतः॥२६९॥

अन्त्रमांसकोथस्य लक्षणं स्पष्टीकरोति—कुणपमिति। कुणपं गलितशवमांसवत् श्यावं दुर्गन्धि च। म्रियन्ते बहवः इत्युक्तेः केचन भाग्यवशादुपक्रमकौशलाद् वा जीवन्त्यपि—इत्यर्थः॥ २६६॥

अथ प्रवाहिकायाः प्रायिकं परिणाममाह—**सम्यगिति**। गूढम् अनाविष्कृतस्वरूपं यथा स्यात्तथा। अन्त्रेष्विति बृहदन्त्रे भूम्ना, यावत् क्षुद्रान्त्र-चरमभागेऽपीति विशेषः। बृहदन्त्रेऽपि प्रायेण उत्तरगुदे कुण्डलिकाभागे च, क्वचि-दुण्डुकेऽपीति विशेषविदः। तादृशाम् आपातदृष्ट्या जातारोग्याणामपि।

तादृशक्षतलिङ्गानि विशदीकरोति—**जीर्णप्रवाहिकेति**। तत्र रक्त-पूयस्रावादि लिङ्गं नित्यं काले काले वा प्रवर्त्तते, आममात्रं वा सविट्कम्। ग्रहणीवत् 'पक्षान्मासाद् दशाहाद् वा' प्रवृत्ता। अस्य रोगस्य जीर्णप्रवाहिका-रूपत्वं स्वबुद्ध्या वा विट्परीक्षया प्रवाहिकाजीवाणूनां पूर्वोक्तानां दर्शनाद् वा समुन्नेयम्॥ २६७-२६८॥

प्रवाहिकोपद्रवं गुदभ्रंशमाह—**गुदभ्रंशश्चेति**। मुहुर्वारं वारं प्रवाह-माणस्य रोगिणो यदा अधरगुदं स्थानभ्रष्टमालम्बते मांसपिण्डमिव, तदाऽसौ गुदभ्रंशः। स च बालानां विशेषतो भवति, यावदन्येषामपि कृशदुर्बलानाम्। दारुणः रुजाकरः, यतः स्थानभ्रष्टमधरगुदं यावत् नान्तः प्रविशति, प्रवेश्यते वा यत्नेन, तावदस्य तीव्ररुजा भवति। गुदभ्रंशहेतुमाह—गुदबन्धनशैथिल्यात्। समग्रं हि गुदं समन्तात् तनुस्नायुमयबन्धनीभिः सम्बद्धं परितः, तासां शैथिल्यं स्वभावादेव बालेषु दुर्बलेषु च दृश्यते इति हेतोस्तेषां गुदभ्रंशः प्रायिकः॥ २६९॥

(अतीसार-प्रवाहिकयोरसाध्यलक्षणानि)

पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्पिण्डनिभं तथा।
मांसधावनतोयाभं सामं नीलारुणप्रभम्। (३००)
वेशवारसमं वापि शकृद् यस्य मुहुर्मुहुः।
निःसरेद् भृशदुर्गन्धि कालप्राप्तं तमादिशेत् ॥३०१॥
सम्मोहारतिहिक्कार्त्तं कृशं दीनं हतस्वरम्।
प्रक्षीणधमनीस्पन्दं वर्जयेदतिसारिणम् ॥३०२॥
असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम्।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतीसारकिणं त्यजेत् ॥३०३॥
श्वासशूलपिपासार्त्तं क्षीणं ज्वरनिपीड़ितम्।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥३०४॥

पूर्वोक्तसम्प्राप्तिकृतानि असाध्यलिङ्गान्याह—**पक्वजाम्बवेति**। जाम्बवं जम्बूफलं तद्धि पक्वमाताम्रकृष्णं भवति, तद्वत्। यकृत्पिण्डमपि तादृक् किन्तु तत्र ताम्राभता अधिका। वेशवारसमं कुट्टितमांससदृशम्। कालप्राप्तम् आसन्नमरणम् ॥३००-३०१॥

अन्यदसाध्यलक्षणमाह—**सम्मोहेति**। सम्मोहः सम्यङ्मोहः प्रश्नोत्तर-दानाऽसामर्थ्येणोपलक्षितः। अरतिः सर्वथा अनभिलाषः सर्वेषु विषयेषु, अस्थिरत्वं वा। तीव्रसम्मोहे तु अस्थिरत्वं न सम्भवति। हिक्का—क्षणे क्षणे हिक् हिक् इति शब्दः महाप्राचीरायास्तीव्रसङ्कोचजन्यः। प्रक्षीणधमनीस्पन्दम्, अंगुष्ठमूलादौ प्रक्षीणः तनुसूत्राकारः स्वाभाविकधमनीस्पन्दो यस्य तादृशम् ॥३०२॥

अन्यविधमसाध्यलिङ्गमाह—**असंवृतगुदमिति**। गुदं हि स्वभावतः संवृतिशीलम्, तच्चेदतिदुर्वलं तदा विवृतद्वारमेव तिष्ठति। दुराध्मातं, उपायशतैरपि अप्रतीकार्याध्मानम्। ईदृशावस्था च अन्त्राणामतिदौर्बल्येन स्वाभाविकसङ्कोच-प्रसाराभावाद्। उपद्रुतं ज्वर-हिक्कादिभिरुपद्रवैर्युक्तम्। गुदे पक्वे व्रणशोथवति गभीरक्षतजुष्टे च। गतोष्माणं स्वाभाविकसन्तापेन हीनं, हिमाङ्गम्। अथापरमपि असाध्यक्षेत्रमाह—**श्वासशूलेति**। श्वासश्च शूलश्च पिपासा चेति त्रिभिर्लिङ्गैरार्त्तम्। ज्वरेण निपीड़ितं तीव्रज्वरं पुराणज्वरक्लिष्टम् वा ॥३०३-३०४॥

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग् वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥३०५॥
निराम-रक्त-शूला विट् न च पीड़ा तलोदरे।
पीड़िते ऽपि भवेद् यस्य तस्य शान्ता प्रवाहिका ॥३०६॥

अथ कालातिसारः।

(Cholera)

(निरुक्तिः) घोरो जनपदोद्ध्वंसी जीवाणुविषसम्भवः।
कालातिसारो विज्ञेयः कलेराख्यः स लोकतः ॥३०७॥

अतीसारस्य आरोग्यलक्षणद्वयमाह—**यस्योच्चारमिति**। उच्चारः शकृत्। यस्य पुरुषस्य मूत्रं वायुश्च उच्चारं विना, अनीप्सितविट्सर्गं विना सम्यक् साधु गच्छति प्रवर्त्तते। यस्याग्निश्च दीप्तः कोष्ठस्य च लाघवमनुभूयते, तस्योदरामयः अतीसारः स्थितः शान्तः—इति सामान्यतोऽतीसारनिवृत्तिलिङ्गम्। प्रवाहिकानिवृत्तिलक्षणं तु विशेषादन्यदपि स्वानुभवादाह—**निरामेति**। आमं च रक्तं च शूलश्च, ते न सन्ति यत्रेति तादृशी विट् यदा भवति—इत्येकमारोग्यलिङ्गम्। यस्य तलोदरे नाभेरधस्ताद् मध्ये उभयतश्च पीड़नेऽपि अंगुलिभिरवपीड़नेऽपि पीड़ा रुजा न भवेदिति द्वितीयम्। अंगुलिभिः पीड़िते तलोदरे चेत् पीड़ानुभवः, अन्यत्र मलावरोधात्, तर्हि अन्त्रक्षतानां नाद्यापि शान्तिरिति मन्तव्यम् ॥३०५-३०६॥

अथाधुना प्रायेण सर्वत्र प्रसिद्धं सद्योमारकं रोगं वर्णयति—**घोर** इति। जनपदोद्ध्वंसी * सपदि भीषणरूपेण प्रादुर्भूय बहुजनक्षयकरः। अत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—जीवाणुविषसम्भव इति। जीवाणुविषमेव सम्भवः सम्भव-हेतुर्यस्य सः, जीवाणुविषात् सम्भवतीति वा। स लोकतः लोके कलेराख्यः 'कलेरा' संज्ञया प्रसिद्धः। सेयमांग्लभाषिकी संज्ञा। वङ्गेषु तु 'ओलाउठा'-इति †, देशान्तरेषु च 'हैजा' इत्यस्य प्रसिद्धिः। कालवन्मारयतीति कालातिसारः।

---

* अस्य रोगस्य जनपदोद्ध्वंसिरूपेण प्रादुर्भूतस्य किञ्चिदधिकं वर्षशतत्रयमतीतमिति तदिति-वृत्तविदां निर्णयः। अधुना तु यत्र तत्र—विशेषतो वङ्गेषु—प्रायोदृष्टोऽयं रोगः। † अतएव वङ्गेषु ओलादेव्याः कोपेनास्य रोगस्योत्पत्तिरभूदिति प्रतियन्ति पूजयन्ति च तां देवीं प्राकृतजनाः।

(परिचयः) तीव्रोऽतिसारो वमथुः पिपासा
स्वेदोऽतिमात्र हृदयावसादः।
मूत्रावरोधश्च भवन्ति सद्यः
कालातिसाराख्यगदे नराणाम् ॥३०८॥

सूचीभिरिव गात्राणां तोदनी या विसूचिका।
प्राचां सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा ॥३०९॥
अथवा देशकालादिपरिणामात् सुदारुणा।
सैव प्राणान्तकृत् प्रायः कालातीसार उच्यताम् ॥३१०॥

ग्रन्थकर्त्तुरियं संज्ञा। कालातिसारस्य परिचयमाह **तीव्र**-इति। तीव्रः, प्रभूतो मुहुश्च। वमथुः वमिः। तीव्रपदं त्रिभिर्लिङ्गैर्योजनीयम्। स्वेदो घर्मः, स चातिमात्रम्। हृदयावसादः, हृद्यन्त्रस्य अवसन्नता सातिशयक्लान्तिलक्षणा। मूत्रावरोधः वृक्काभ्यां मूत्रनिर्माणस्य अत्यल्पता सर्वथावरोधो वा। सद्यः, समाने दिने सपदि वा ॥३०८॥

ननु सति विषूचिकाख्ये वैद्यकप्रसिद्धे रोगे व्यर्थ एवायं नवीनरोगवर्णनप्रयास इति सन्देहं निरस्यन्नाह—**सूचीभिरिति**। गात्राणां सूचीभिरिव तोदनी सर्वगात्रेषु सूचीवेधवद् रुजाकरी। नैतल्लक्षणं कालातिसारे घटते। प्राचां प्राचीनाचार्याणां सम्मता या विषूचिका सा अजीर्णोत्था अजीर्णसम्भवा, न त्वागन्तुहेतुका। उक्तञ्च—"न तां परिमिताहारा लभन्ते"—इत्यादि। अपरं विशेषमाह—न सा प्रायः प्राणहरीति। कालातिसारस्तु प्रायः प्राणहरः। ननु विषूचिकाया लक्षणं त्वदुक्तकालातिसारलिङ्गैः समानं, तथाहि श्रूयते—"मूर्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः। वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः।" इति (माधवनिदाने), तद् विषूचिकैवायमिति चेत्, उच्यते—**अथवेति**। देशस्य आनूपादेः। कालस्य शीतोष्णवर्षलक्षणस्य। आदिपदेन अधर्मकृतादृष्टस्य च। परिणामात् फलविपाकात्। सुदारुणा दारुणीभूता हृत्सादप्रस्वेद-मूत्रावरोधाद्युपद्रवयुता। वस्तुतस्तु—'तुष्यतु प्रतिपक्षः'—इति न्यायेनेदमुक्तम्। सर्वाङ्गतोद-मूर्च्छा-कम्प-शूल-शिरोभेदादिलिङ्गानामभावात्, आगन्तुहेतुकत्वात्, प्रायः प्राणान्तकत्वाच्च पृथगेवायं रोगो मन्तव्यः ॥३०९-३१०॥

(निदानम्) रेफाख्यविषजीवाणुसंक्रमादन्नपानयोः ।
जायते कालरोगोऽयं क्षुत्क्षामानां विशेषतः ॥३११॥
तीर्थयात्रादिषु प्रायो दावाग्निसदृशो बली ।
जनान् दहति रोगोऽसौ संकुलावसथेष्वपि ॥३१२॥

(सम्प्राप्तिः) कालातिसारयुक्तानां पुरीषादिषु रोगिणाम् ।
रेफाभसूक्ष्मजीवाणुबाहुल्यमभिलक्ष्यते । (३१३)
तत्संदूषितवस्त्रादेस्तड़ागादिषु धावनात् ।
पानीयं दूष्यते सद्यः, खाद्यं वा मक्षिकादिभिः । (३१४)

अथ कालातिसारस्य निदानमाह—रेफाख्येति । अक्षरशिरस्को वक्राकृतिर्यो रेफः (ʳ), तदाकारत्वाद् रेफाख्या ये विषजीवाणवः, तेषामन्नपानयोः संक्रमाद् वक्ष्यमाणरीत्या दूषणात् । क्षुत्क्षामानाम्, उपवासादिक्लिष्टानां सुक्षेत्रभूतानाम् । क्षुदित्युपलणं, तेन ज्वरादिक्लिष्टानामपि । विशेषत इत्युक्तेः सामन्यतः सर्वेषामपि । यथा सुक्षेत्रे बीजवपनादंकुरोत्पत्तिः सुलभा, तद्वदिहापि दुर्वलाग्नीनां दूषितान्नपानाद्युपयुञ्जतां भूम्ना सम्भवति कालातिसारः—इत्यभिप्रायः । तद्दृष्टान्तश्च—तीर्थयात्रादिषु इति । दहति नाशयति । संकुलावसथेष्विति अपरो दृष्टान्तः । बहुजनसंकुलेषु दरिद्राणां गृहेष्वपि तद्वदस्य रोगस्य प्रसरः, संक्रमणसौलभ्यात् क्षेत्रसौलभ्याच्च—इति भावः ॥३११-३१२॥

कालातिसारस्य सम्प्राप्तिमाह—कालातिसारेति । पुरीषादिषु, पुरीषे वान्तवस्तुनि, निष्ठीवने च । रेफाभाः सूक्ष्माः अणुवीक्षणयन्त्रसहायेन चक्षुषा दृश्याः ये विशिष्टविषजीवाणवस्तेषां बाहुल्यं प्राचुर्यम् (यथा ५म चित्रे)। अन्यत् स्पष्टम् । तज्जुषां दूषितं पानीयं खाद्यं वा जुषतामुपयुञ्जतां जनानाम् । आमाशयस्य पक्वाशयस्य च विशेषेण दूषणात्, तज्जीवाणुविषेणेति शेषः † ।

---

† ननु जीवाणव एव कारणं, न कार्यमिति कथं निश्चय इति चेत्, एतत्प्रासङ्गिको विचारो विशिष्टनिदानव्याख्याने (पञ्चनिदानप्रकरणे) द्रष्टव्यः । स्मर्त्तव्यञ्च—फलनिष्पत्तौ क्षेत्रसम्पत्तिरप्यपेक्ष्यते, क्षेत्रञ्चेह—अध्वोपवास-जीर्णज्वराऽजीर्णादिक्लिष्टं शरीरमेव । यथा हि "जल-कर्षण-बीजर्तुसंयोगात् शस्यसम्भवः" इत्युक्तम्, तथैव इहापि कारणकूटस्यावश्यकता बोद्धव्या । तस्माद् अन्यथासिद्धहेतुत्वं जीवाणूनां न मनागपि शङ्कनीयम् । तज्जीवाणूनां संक्रामणेन तद्रोगोत्पादनस्य शक्यत्वाच्च ।

जनानां तज्जुषामाम-पक्वाशयविदूषणात्।
त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति तन्त्रयन्त्रेषु सर्वशः। (३१५)
ततश्छर्द्यतिसारातिस्वेदैर्भूम्ना जलक्षयात्।
रक्तस्य सान्द्रता तृष्णा मूत्ररोधश्च दारुणः। (३१६)
हृत्सादादीनि लिङ्गानि ततो मरणमृच्छति।
आप्यधातुर्न चेत् काले कुशलैः परिपूर्यते ॥३१७॥
(लिङ्गानि) अतीसारश्च वान्तिश्च प्रायेण युगपन्मुहुः।
वान्तं शकृच्च मण्डाभं प्रभूतं मत्स्यगन्धि च। (३१८)
तृषा घोराऽस्थिरत्वञ्च प्रस्वेदश्च हिमाङ्गता।
पिण्डिकोद्वेष्टनं खल्वी स्वरभङ्गोऽवसन्नता। (३१९)

तन्त्रयन्त्रेषु तन्त्राणि सिरा-धमनी-रसायनी-नाड्यादिस्रोतांसि, यन्त्राणि हृद्-वृक्क-फुस्फुसादीनि, तेषु। सर्वशः सर्वत्र सर्वप्रकारेण—इत्यहो घोररूपता विषस्य। तत्फलञ्चाह—तत इति। ततो हेतोः भूम्ना प्राचुर्येण जलक्षयात् वम्यतीसारप्रस्वेदैराप्यधातोः सपदि निःसरणेन शरीरान्तरल्पीभूतत्वात्। रक्तस्य सान्द्रता घनीभूतत्वम्। तल्लिङ्गानि च—तृष्णा जलाकांक्षा आप्यधातुपूरणाय। अतएव मूत्ररोधः मूत्रस्य अनिर्माणमत्यल्पनिर्माणं वा वृक्काभ्याम्। हृत्सादः हृद्यन्त्रस्य शनैः क्रियालोपः। आदिपदेन सर्वाङ्गशैथिल्य-श्वासकष्टादीनि वक्ष्यमाणानि लिङ्गानि। ततो मरणमृच्छति प्राप्नोति। अत्र विशेषमाह—चेद् यदि कुशलैः क्रियानिपुणैः वैद्यैः काले यथाकालमाप्यधातुः सिरापथेन न परिपूर्यते, यथायोग्य-प्रमाणलवणाम्बुप्रयोगात् रक्तस्य सान्द्रता नापनीयते—इति। सुचिकित्सया तथाविधोपक्रमेण साम्प्रतं बहुशो मुमूर्षाणामारोग्यदर्शनादिदमुक्तम्॥३१७॥

कालातिसारस्य लिङ्गान्याह—**अतीसारश्चेति**। युगपत् समकालम्। प्रायेणेति कदाचिदादौ वमिरादौ वाऽतिसारः—इत्युच्यते। मुहुः, पुनःपुनः। वान्तं वस्तु शकृच्च कदाचिदादौ पित्तमिश्रमपि क्रमशो मण्डाभं भक्तगालितजलवद् भवति। प्रभूतं प्रचुरम्। मत्स्यगन्धि, अन्त्रान्तरीयश्लेष्मलकलायाः खण्डशः क्षणनात्। मण्डाभता च तत एवहेतोः रेफजीवाणुबाहुल्याच्च। भूरिता तु आमाशय-पक्वाशयप्राचीरकेभ्यो भूरिजलक्षरणाद्। एवञ्चाप्यधातुक्षयाद् घोरा दुर्निवारा तृष्णा, यतः पीतं पीतं जलमुदरे नावतिष्ठते। प्रस्वेदः प्रकर्षेण स्वेदः, स च स्नपयन्निव

मूत्रावरोधः क्रमशः श्यावोष्ठनखता तथा।
मोहोऽन्तर्ज्ञानयुग् दाहो हृत्सादः श्वासकृच्छ्रता। (३२०)
चीयते धमनीस्पन्दो लुप्यते वाञ्जसा क्वचित्।
कालातिसारे लिङ्गानि तेभ्यः कश्चित् प्रमुच्यते ॥३२१॥
तथापि चेत् सिराबेधात् लवणाम्बु प्रयुज्यते।
पूरणेनाऽप्यधातूनां जीवन्त्येव हि केचन ॥३२२॥

(कालातिसारस्य भेदः)

ऋते छर्द्यतिसाराभ्यामन्यैर्लिंगैः स च क्वचित्।
तत्र जीवाणुभूयिष्ठजलेनान्त्रस्य पूर्णता। (३२३)

गात्राणि प्रवर्त्तते—इत्यतोऽपि भूम्ना आप्यधातुक्षयः। तत्कृतानि च हिमाङ्गतादीति लिङ्गानि। मूत्रावरोधश्च वृक्काभ्यां मूत्रनिर्माणकार्यस्य विलुप्तप्रायत्वाद् विलोपाद् वा सर्वथा। क्रमश इत्युक्तेः यथा यथा आप्यधातुक्षयोऽधिकाधिकः स्यात् तथा तथा मूत्रावरोधादीनि—इत्युन्नेयम्। पिण्डिकोद्वेष्टनं बाहु-जङ्घयोः पिण्डिकाख्य पेशीनां वस्त्रनिष्पीड़नवत् पीड़ा। खल्वी करपादांगुलीनां मुहुः क्षणिको वक्रीभावः। मोहोऽन्तर्ज्ञानयुग्—इत्युक्तः प्रमूढ़वदवस्थितोऽपि रोगी प्रश्नोत्तरदानसमर्थो भवति, न तु सर्वथा मूर्छितः स्याद्। दाहः अन्तर्दाहः, यतस्तीव्रज्वरोऽस्य निगूढ़ः, स च गुदान्तस्तापमानयन्त्रनिवेशाद् ज्ञेयः। हृत्सादः हृद्यन्त्रस्य क्रमशः क्रियालोपः। श्वासकृच्छ्रता तु रक्तस्य सान्द्रताहेतोः हृत्क्रियायाः कृच्छ्रप्रवर्त्तनात् फौस्फुसरक्त-संवहनार्थं प्रश्वासाधिक्यात्। सान्द्रं हि रक्तमतिकृच्छ्रेण विक्षिप्यते फुस्फुसान्तरन्यत्र चाङ्गेषु हृद्यन्त्रेण। तदेतदासन्नमरणलिङ्गम्। अथ सद्योमारकस्य दर्शितारिष्ट-स्यापि कालातिसारस्य यत् नवीनं चिकित्साकौशलमाविष्कृतं, तेन केचिन्मुमूर्षवोऽपि जीवन्ति—इत्यभिलक्ष्याह—**तथापीति**। सिरावेधात् बाहुमध्येऽन्यत्र वा स्थूलसिराया वेधं कृत्वा, तदन्तः लवणाम्बु लवणजलं चेत् प्रयुज्यते, प्रकर्षेण यथाविधि क्षिप्यते कुशलैः, तदा केचन रोगिणो जीवन्त्येव, न तु न जीवन्ति दृष्टारिष्टत्वादित्यभिप्रायः। ज्ञानप्रकर्षोद्भावितेयमभिनवा चिकित्सा आसन्न-मरणानामपि सञ्जीवनीति वैद्यैरवश्यं शिक्षणीया—इत्यनेन सूचितं भवति ॥३२२॥

कालातिसारस्य अलसकवदाकृतेः स्वरूपमाह—**ऋते** इति। वम्यति-सारयोरभावेऽपि पूर्वोक्तैरन्यैर्लिङ्गैः क्वचित् स एव रोगः। ननु कथं ज्ञायते स एवैष

प्रत्यक्षं दृश्यते सद्योमृतकस्य परीक्षया।
तस्मात् कालातिसारस्य भेद एव स उच्यते ॥३२४॥

अथ ग्रहणीरोगाः।

(निरुक्तिः) **अग्निमान्द्येऽपि सातत्याद् भुञ्जते ये यदृच्छया।**
ग्रहणीदौर्बलात् तेषां जायते ग्रहणीगदः ॥३२५॥
विड्भेदः प्रायशस्तत्र भुक्तं दुःखेन पच्यते।
रसश्चादीयते स्वल्पः शीर्यन्ते धातवस्ततः ॥३२६॥

रोगः—इत्युत्तरमाह तत्रेति। तादृशरोगिणो मृतकपरीक्षया दृश्यते—रेफजीवाणुभूयिष्ठेन जलेनान्त्रस्य पूर्णता इति हेतोः, कालातिसारभेद एवायमलसकोपेतः। रेफजीवाणवो हि तस्मिन् जले अणुवीक्षणेन भूरिशः प्रत्यक्षीक्रियन्ते ॥३२४॥

अथ अतीसारानन्तरं तेन घनिष्ठसम्बन्धं ग्रहणीरोगमाह—**अग्निमान्द्ये**—इति। अग्नेर्जाठराग्नेर्मान्द्यं क्रियाशैथिल्यम्। सत्यपि तस्मिन् सातत्यात् सततमभ्यासात् ये यदृच्छया यथेष्टं भुञ्जते, तेषां ग्रहणीदौर्बलाद् हेतोः, ग्रहणीगदः ग्रहण्याख्यो गदः ग्रहण्या वा गदो रोगः जायते। एकवचनं सामान्ये यतो बहुविधा ग्रहणीरोगा अग्रे वक्ष्यन्ते। ग्रहणीविवरणञ्चाग्रे वक्ष्यते। ननु "अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्ने रहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्"—इत्याहुः प्राञ्चः। तच्चावदातं लक्षणं कथमुपेक्ष्यते इति चेत्, शृणु। अतीसारस्य प्राग्भावित्वं नावश्यकं, अन्यथाऽपि बहुधा ग्रहणीरोगाणां दर्शनात्। पथ्याशिनोऽपि कदाचिदम्बुदोषाद् ग्रहणीरुक्प्रवृत्तेश्च।

अथ रोगपरिचयमाह संक्षेपेण—**विड्भेदः**—इति। प्रायश इत्युक्तेः कदाचिदन्तराऽन्तरा विड्विबन्धोऽपि। भुक्तं दुःखेन पच्यते—इति तु मुख्यं लिङ्गम्। दुःखेन पचनञ्च, आध्मानाऽऽटोप-शूलादिभिः सहान्नविपाकः। अतएव रसो भुक्तरसः स्वल्पः स्तोकप्रमाणः आदीयते संगृह्यते रसांकुरिकाभिः क्षुद्रान्त्रान्तरीयकलान्तःस्थिताभिः। रसादानञ्च जाठराग्नेरेव प्रभावादित्याहुः प्राञ्चः। यदुक्तं सुश्रुते—"जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते"—इति। अतएव धातवः पोषकरसादिशुक्रान्ताः शीर्यन्ते कृशीभवन्ति, दैनन्दिनक्षयापूरणस्य अल्पीयस्त्वात् ॥३२५-३२६॥

(निदानम्)

अजीर्णोक्तनिदानानामभ्यासादम्बुदोषतः।
अतीसारोपेक्षया वा ग्रहणीरुक् प्रवर्त्तते॥
प्रायश्च ग्रहणीरोगो दृश्यते चाम्लपित्तजः।
तथाहि सर्वमेवान्नं प्रायेणात्र विदह्यते॥३२७-२८॥

(ग्रहणीपदार्थः)

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागोऽसौ कथ्यते द्वादशांगुलः॥३२६॥

अथ ग्रहणीनिदानमाह—**अजीर्णेति**। अभ्यासात् सातत्येनोपयोगात्। अम्बुदोषतः मलादिदुष्टजलपानात्। अतीसारस्य उपेक्षयेति सामान्यत उक्तम्, विशेषतस्तु प्रवाहिकोपेक्षया तद्रोगशेषस्य सम्यगचिकित्सनादिति स्मर्त्तव्यम्। तच्च रोगिणो भिषजो वा रोगशेषज्ञानाभावाद्, तज्ज्ञानेऽपि चिकित्सानैष्फल्याद् वा। तदेतत् त्रयं पृथग् युगपद् वा ग्रहणीरोगस्य निदानं ज्ञेयम्। अपरमपि हेतुमाह स्वानुभवदृष्टम्—प्रायश्चेति। चरकेऽप्युक्तम् ग्रहण्यधिकारे—"सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते।"—इति (च० चि० १५ अ०)। अम्लपित्तं ह्युपेक्षितं बहुधा ग्रहणीं जनयति, स्वयं च न प्रशाम्यति—इति प्रायिको नियमः। प्रायश्चेत्युक्तेः कफजग्रहण्यां नापि दृश्यते अम्लपित्तमित्यभिप्रायः॥३२७-३२८॥

अथ ग्रहणीपदार्थं निरूपयति—**अग्न्यधिष्ठानमिति**—चरकीयवचनेन। अग्निर्नामेह सर्वान्नजरणक्षमः क्षाराऽम्लपाचकरसनिःस्रावप्रदः सूक्ष्मो धातुः। स चाग्निवर्णने व्याख्यातपूर्वः। इह तु अग्निपदेन कायाग्निरेवाभिप्रेतः, न धात्वग्निः। स च आमाशयाद् अम्लरसनिःस्रवं, यकृतः पित्तं, अग्न्याशयात् सर्वान्नपचनक्षमं क्षारनिःस्रवं, अन्त्रान्तरीयकलान्तर्निगूढग्रन्थिभ्यश्चान्त्रिकरसं स्रावयति। तादृशानां चाग्नेयरसानामधिष्ठानं सम्मेलनस्थानमाद्यं ग्रहण्येव। अतो लक्षणया सैव अग्न्यधिष्ठानम्। अन्नस्य ग्रहणञ्चामाशयात् तत्रैव, तस्मादन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणीति संज्ञा। तदवस्थानादि च चरके यथा—"नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता। अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति।"—इति (च० चि० १५ अ०)। अत्र नाभेरुपरीति स्थानमुद्दिष्टम्। दक्षिणाद् वामतः परिघवदवस्थितेति फलितार्थः। पार्श्वतः इति वामपार्श्वतः, अवशिष्टक्षुद्रान्त्रमुखे—इत्यर्थः।

(ग्रहणीपदार्थनिर्णये मतान्तरम्)

पच्यमानाशयान्तःस्थां कृत्स्नां पित्तधरां कलाम्।
ग्रहणीं सुश्रुतः प्राह रसादानकरी हि सा॥
तस्याः क्रियादौर्बलाच्च दोषदुष्टेरथापि वा।
न भुक्तं पच्यते सम्यग् रसो नादीयते तथा॥३३०-३१॥

दुर्बलाग्निवला—इत्युक्तेः पाचकाग्निदुर्बलत्वात् क्षाराम्लनिःस्रवाणामल्पत्वं सूच्यते। सेयम् ग्रहणी द्वादशाङ्गुलदीर्घा द्विवक्रा क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागरूपेत्युक्तपूर्वम् शारीरे॥३२९॥

ग्रहणीपदार्थनिर्णये मतान्तरमाह द्वाभ्याम्—**पच्यमानेति**। पच्यमानाशयो नाम क्षुद्रान्त्राणि। पित्तधरा कला पुनः क्षुद्रान्त्राणामभ्यन्तरावरणी। सा पाचकाग्नेः प्रभावात् अग्न्याशयादिभ्यो निःस्रुतानां भुक्तपाचकानां रसानां धारणी। ते च रसा इहैवाग्निवर्णनप्रसङ्गे व्याख्याताः। तथा च सुश्रुतः—"षष्ठी पित्तधरा (कला) या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं * धारयति।" इति। अत्र पक्वाशयपदेन तत्पूर्वांशः पच्यमानाशयो गृह्यते यथासम्भवन्यायेन। ननु सेयं कला पक्वामाशयमध्यस्थेति श्रूयतेऽन्यत्र सुश्रुत एव यथा—"षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्त्तिता।" इति (सुश्रुत० उत्तर० ४० अ०), तत् स्फुटः स्वोक्तिविरोधः—इति चेत्, मैवम्। सामान्याभिधानमेतत्। आमाशयेऽपि दुग्धमांसादीनां स्तोकेन विपाकदर्शनात् तदन्तरीयाऽपि कला अम्लरसस्राविणी पित्तधरायामन्तर्भाविता भवितुमर्हति। विशेषतस्तु पच्यमानाशय एव पित्तधरायाः स्थानम्, आमाशयात् प्रच्युतमन्नपानं धारयतीत्यभिधानात्। तत्रापि क्षुद्रान्त्राणि रसांकुरिकाणामपि धारणीति विशेषतो रसादानकराणि—इति पच्यमानाशय एव मुख्यं पित्तधरायाः स्थानमिति न विरोधः। अथ ग्रहणीति संज्ञाबीजं दर्शयति—रसादानकरी हि सेति। एवं सुश्रुतमते रसग्रहणाद् ग्रहणीत्यर्थः। विजयरक्षितस्तु पक्वामाशययोर्मध्यस्था (अन्तरालस्था)—इति पच्यमानाशय एव ग्रहणीति व्याचष्टे। तथा च क्षुद्रान्त्रान्तरीयैव कला पित्तधरेत्यर्थः पर्यवस्यति। तस्या इति। क्रियादौर्बलमग्निबलाल्पत्वात् पाकक्रियायाः दुर्बलता। दोषदुष्टेः वातादिकृतविकृतेः। तथेति सम्यगित्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्॥३३०—३३१॥

---

* इह पक्वाशयपदं सामान्यतः सर्वान्त्रवाचि। अन्यत्र बृहदन्त्रमेव पक्वाशयः, मलाशयो वा।

(प्रसङ्गादन्नविपाकक्रियावर्णनम्)

अन्नं सुचर्वितं वक्त्रे लालया मधुरीकृतम् ।
प्रक्लिन्नं क्लेदनेनापि श्लेष्मणाऽऽमाशयागतम् ।
ततश्चाऽऽमाशयरस-क्षरणादम्लतां गतम् ।
ग्रहण्या गृह्यते काले पच्यते च विशेषतः ॥३३२-३३॥
याकृतं तत्र पित्तं च रसश्चाग्न्याशयात् स्रुतः ।
क्षरतस्तद्विपाकार्थं, पच्यमानं च तत् पुनः ।
क्षुद्रान्त्रेषु प्रचलति क्रमादान्त्ररसाप्लुतम् ।
एवं हि दीर्घमार्गेऽस्मिन् भुक्तं सम्यग् विपच्यते ।
आकृष्यते च सारोऽस्मादर्धकोटिरसांकुरैः ॥३३४-३५॥

अथ शिष्यबुद्धिवैशद्याय अन्नविपाकक्रमं प्रसङ्गागतं संक्षेपेण वर्णयति—**अन्नम्**—इति। चर्वणेन हि अन्नस्य संघातभेदः, लालास्रावश्च। मुखलाला[१] चेषत्क्षारस्वभावा न केवलमन्नस्यार्द्रीकरणाय किन्तु शालिगोधूमाद्यन्नानामीषन्मधुरविपाकायाऽपि, तदन्तर्गतकिण्वविशेष[२]प्रभावात्। क्लेदनस्तु श्लेष्मा[३] आमाशयागतमन्नं प्रकर्षेण क्लेदयति। "आमाशयो[४] नाम आमान्नस्य प्रथमाधारो मृदुमांसमयो दृतिसमाकारः। स च स्फारतमो भागो महास्रोतसः, यो वामानुपार्श्विकभागं हृदयाधरिकभागं चोदरस्याधिकृत्य तिर्यगधिशेते।"—इति प्रत्यक्षशारीरे वर्णितम्। तत्र चोपस्थितमन्नं मुखलालासंयोगेन किञ्चित् क्षारमधुरीकृतमपि आममपक्वमेव। अत एवास्य 'आमाशय' इति प्राचां संज्ञा संगच्छते। ननु मांसदुग्धादेरंशतोऽम्लविपाकस्तत्र कालान्तरेण भवत्येव तत् कथमयमामाशयः—इति चेत्, सत्यम्। तथापि ग्रहणीं प्राप्तस्यैव तस्य प्राधान्येन सर्वविधोऽपि विपाक—इति न संज्ञादोषः। याकृतमिति। यकृदुद्भवं याकृतम्। तच्च पित्तं मलभूतमपि क्षारस्वभावत्वादन्नस्य अम्लत्वं निवार्य क्षारीकृत्य च तद् विपाकक्रियासहायतां करोति। आन्त्ररसश्च कृत्स्नेषु क्षुद्रान्त्रेषु तदन्तर्वर्तिकलानिगूढ सूक्ष्मग्रन्थिभ्यः स्रवतीति शारीरे वर्णितम्। दीर्घमार्गे इति अन्त्राणां सार्धत्रिव्यामदीर्घत्वादुक्तम्। अर्धकोटिरसांकुरैरिति — क्षुद्रान्त्राणामन्तर्वर्त्तिकलास्वस्थिताभि-

---

१। Saliva. २। Ptyalin. ३। Mucus. ४। Stomach.

अथ निःसारतां प्राप्तं शेषमुण्डूकमाविशेत्।
स्थूलान्त्रे प्रचलच्छुष्कं तद्गच्छेन्मलपिण्डताम्॥
इत्येषोऽन्नविपाकस्य क्रमः प्रोक्तः समासतः।
विकारादस्य जायन्ते ग्रहणीसम्भवा गदाः॥३३६-३७॥

(ग्रहणीसामान्यलिङ्गानि)

साममं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा।
अकस्माद् वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः।
चिरकृद् ग्रहणीदोषः संचयाच्चोपवेशयेत्।
इति सामान्यलिङ्गानि प्रायशो ग्रहणीगदे॥३३८-३९॥

(ग्रहणीभेदाः)

वातात् पित्तात् कफाच्चापि स रोगस्त्रितयादपि।
सामवातेन चाप्यन्यः संग्रहग्रहणीगदः।

र्धकोटिसंख्याभिः रसांकुरिकाभिरित्यर्थः। ता हि निर्माणवैचित्र्यात् भुक्तविपाकसमुत्थरसस्य संग्राहिण्यः—इति तत्स्वरूपवर्णनमुखेनोक्तं प्रत्यक्षशारीरे॥३३२-३३५॥

अन्नस्य चरमपरिणामं वर्णयति—अथेति। शेषं पाकावशेषमन्नं निःसारतां प्राप्तम्, आकृष्टरसत्वात्। उण्डुकं बृहदन्त्रस्याद्यभागमाविशेत्। तदाग्रे स्थूलान्त्रे प्रचलद् आन्त्रिकपेशीनां जलौकावत् सङ्कोचवशाद् शनैरग्रतो नीयमानं, शुष्कं अवशिष्टाप्यभागकर्षणात् शुष्कीभूतम्, मलपिण्डतां गच्छेत्। उण्डुकप्रवेशतः पूर्व तु तत् तरलमेव—इत्यवधेयम्। इत्येष इति। समासतः संक्षेपतः। विस्तरस्तु अग्निवर्णनप्रसंगे व्याख्यातो द्रष्टव्यः। अन्यत् स्पष्टम्॥३३६-३३७॥

अथ ग्रहणीसामान्यलिङ्गान्याह वाग्भटीयवचनेन (अ० हृ० नि० ८ अ०) **साममिति।** ग्रहणीदोषः अन्ने अजीर्णे सति साममपक्वं मलमुपवेशयेत् निःसारयेत्। सान्नं अविकृतान्नसहितं च। अन्ने जीर्णे तु पक्वं मलं, तथा नैव वा विबन्धात्। अकस्माद्, अनिमित्तमिव। मुहुः वारं वारं, बद्धं कठिनीभूतम्। अथवा शिथिलं नातिसान्द्रं तरलभूयिष्ठं वा। सञ्चयाद् मलसञ्चयाद् वा हेतोः। अयमपरो हेतुः। चिरकृत्, चिरानुबन्धी। अतीसारस्तु आशुकारी, स्वल्पकालस्थायी च— इत्यनयोर्भेदः। अन्यत् स्पष्टम्॥३३८-३९॥

अथ ग्रहणीभेदानाह स्वानुभवदृष्टान् त्रिभिः श्लोकैः— **वातादिति।**

सामश्लेष्मभवश्चान्यो राजग्रहणिकाह्वयः।
जीर्णप्रवाहिकोत्थाऽन्या क्षतजा ग्रहणी तथा।
क्षयजा ग्रहणी चापि निर्मोकग्रहणी तथा।
इत्येवं ग्रहणीरोगा दृश्यन्ते बहुधा नृणाम् ॥३४०-४२॥

(पूर्वरूपम्)

पूर्वरूपं ग्रहण्यास्तु चिरात्पाकोऽम्लकस्तृषा।
क्वचिद् वमिर्वा भेदो वा भ्रम-क्लम-बलक्षयाः ॥३४३॥

(अथ वातजग्रहणी)

अत्यर्थवातलाहारविहारादतिमैथुनात्।
क्रमशः कुपितो वायुः समानोऽपान एव च।
विषमाग्निं प्रकुरुते ग्रहणीमभिदूषयन्।
पक्वाशयविकारांश्च घोरान् मारुतसम्भवान् ॥३४४-४५॥

एकैकदोषतः, त्रितयात् सन्निपाताच्च। ननु द्वन्द्वजाः कथं नोक्ताः? द्वन्द्वजाना पृथगदर्शनात् नोक्ताः, ते हि प्रायशो दोषान्तरसम्पर्कात् त्रिदोषजा एव भवन्तीति। तर्हि संग्रहग्रहण्याद्याः कथं पृथगुक्ताः इति चेत्, उच्यते। तेषां सामदोषजत्वेन विशिष्टलक्षणोपलक्षितत्वेन च पृथग्जातीयत्वात् पृथगुक्तिः। नवधेति वक्तव्ये बहुधेत्युक्तिरनुक्तानामपि काले काले भाविनां ग्रहणीभेदानां ग्रहणाय ॥३४०-४२॥

अथ ग्रहणीपूर्वरूपं प्राह—**पूर्वरूपमिति**। अम्लकः अम्लोद्गारः। भेदः, अतीसारः, क्वचिदिति पदं न सर्वत्र तथेति बोधयति। भ्रमः, चक्रारूढवदनुभवः। क्लमः, अकृतश्रमस्यापि श्रमानुभूतिः। बलक्षयः श्रमशक्तेः क्रमशो हानिः ॥३४३॥

अथ वातजग्रहणीमाह निदानसम्प्राप्तिमुखेन **अत्यर्थमिति**। अत्यर्थमतिमात्रं वातलाहारविहारात्, तेषां "व्यायामादपतर्पणाद्"—इति प्राचीनपद्ये वर्णितानाम् (पञ्चनिदानाधिकारे) सेवनात्। अतिमैथुनात्, इदं पूर्वान्तर्भूतमपि विशिष्टनिदानमिति पृथगुक्तं, भूम्ना तस्य ग्रहणीकारणताप्रदर्शनाय। क्रमशः, शनैः शनैः। तत्तन्निदानानां सातत्येनोपयोगादित्यभिप्रायः। न हि द्वित्रैरेव दिनैरनुचिताहारविहारोपयोगेऽपि ग्रहणी भवति। समानो वायुरपानश्च—इत्युभयोर्विकृतिं सूचयति। समानो हि वायुरग्निं सन्धुक्षयति, पचति, चान्नं, तत्सहायः, विविनक्ति च रसादिविशेषान्।

विषमं पच्यतेऽस्यान्नं साध्मानं शुक्तपाकयुक्।
आ भुक्तजरणाद् दुःखं, भुक्तमात्रे क्षणं सुखम्।
सूचीभिरिव निस्तोदो वंक्षणोदरकुक्षिषु।
करपादेषु खल्वी च हृत्पीड़ा सदनं तथा।
मुहुर्द्रवं मुहुःसान्द्रं शब्दफेनयुतं शकृत्।
स मुञ्चेत् प्रायशो जातु श्वासकासनिपीड़ितः ॥३४६-४८॥

(अथ पित्तजग्रहणीलिङ्गानि)

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम्।
अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम् ॥

अपानस्तु मलमूत्रादिनिःसारणो विशेषेण पक्वाशयचरः—इत्युक्तपूर्वम्। वायुरित्येकवचनं सामान्याद्। ग्रहणीमभिदूषयन्, समन्ताद् विकुर्वन्। पक्वाशयविकारांश्च, बृहदन्त्रगता विकृतीश्च शिथिल-विवद्धवर्चस्त्वपरिकर्त्तिकाद्याः। प्रकुरुते इति पूर्वेणान्वयः। विषमाग्निमिति बहुव्रीहिः। विषमः, कदाचित्तीक्ष्णः कदाचिन्मन्दः पाचकाग्निर्यस्य तादृशं पुरुषम् ॥३४४-४५॥

अथ वातजग्रहणीलिङ्गानि वर्णयति स्वानुभवदृष्टानि—**विषममिति**। विषमं पच्यते, कदाचिद् भूरिघृतं पलान्नमपि पच्यते, कदाचित् सूपान्नमपि न पच्यते—सैषाऽग्नेर्विषमता। पच्यते इति कर्मकर्त्तरि प्रयोगः। साध्मानमुदराध्मानसहितम्। शुक्तपाकयुक्, शुक्तवत्पाकयुक्तम्। शुक्तं नाम काञ्जिकजातं अम्लं यदोदनस्य मूलकादेश्च पर्युषणात् सन्धानाच्च जायते। आ जरणात् जरणावधि, यावद् जरणं न परिसमाप्यते तावदित्यर्थः। अतएव चरकः—'जीर्णे जीर्यति चाध्मानम्'। भुक्तमात्रे इति जरणारम्भात् पूर्वमित्यभिप्रायः। इदं वातग्रहण्या विशिष्टं लिङ्गम्। हृत्पीड़ा, हृत्प्रदेशे पीड़ा, न तु हृद्यन्त्रे। क्वचिद् वा क्षणं हृद्यन्त्रेऽपि, तद्गतिवैषम्यादिदर्शनात्। जातु कदाचित्। न हि सर्वत्र श्वासकासौ दृष्टौ। दृष्टश्च श्वासोऽत्र तमकाख्यः। स च प्राणदाख्यनाड़ीप्रतानानामामाशयग्रहण्यादिषु प्रसृतानामुद्वेजनादिति शारीरज्ञाः ॥३४६-४८॥

अथ पित्तजग्रहणीलिङ्गान्याह चरकीयवचनैः—**कट्वजीर्णेति**। कटु तीक्ष्णं मरिचादि। न तु तिक्तम्,—तस्य पित्तप्रशमकत्वात्। वैद्यके हि कटुपदं तीक्ष्णार्थकमेव। अजीर्णं, विदग्धाजीर्णमुक्तलक्षणम् यथासम्भवन्यायेनार्थकल्पनाया

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्‌गार-हृत्कोष्ठदाहाऽरुचितृड़र्दितः ॥३४६-५०॥

(अथ कफजग्रहणीलिङ्गानि)

अव्यायामाद् गुरुस्निग्धभोजनादतिभोजनात्।
अकाले च दिवास्वप्नात् हन्त्यग्निं कुपितः कफः।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्य-कास-ष्ठीवन-पीनसाः।

न्याय्यत्वात्, पित्तजग्रहण्या विशेषेणाम्लपित्तप्रभवत्वाच्च। पित्तमत्र आमाशयस्थोऽम्लरसः, याकृतपित्तञ्च विशेषात्। उल्वणं मात्राधिकम्। मात्रा च याकृतपित्तस्य प्रत्यहं ५०।६० तोलकमाना स्वभावात्। आमाशयिकाम्लरसमानं तु तत्पादमात्रम्। अग्निमाप्लावयदिति। अग्निश्च नात्र 'जाठरो भगवानग्निः' इत्युक्तिविषयः सूक्ष्मोऽग्निः, तस्य आप्लावनाऽशक्यत्वात्। अतस्तन्त्रयुक्त्या अग्न्याशयनिःसृतः आग्नेयरसरूपोऽग्निरत्राभिप्रेतः। वस्तुतस्तु स एव सर्वान्नजरणक्षम इत्यग्निपदं तत्र सम्यग् युज्यते। आप्लावनञ्च तस्य मात्राधिकेम आमाशयनिःसृतभूयिष्ठाम्लरसेन याकृतपित्तेन च सम्भवति। तथा च हीयतेऽग्नेर्जरणशक्तिः, सङ्गच्छते च दृष्टान्तः—जलं तप्तमिवानलमिति।

अथैवं सम्प्राप्तिमभिधाय तल्लिङ्गान्याह—**सोऽजीर्णमिति**। नीलपीताभं, मलभूतस्य तद्वर्णस्य याकृतपित्तस्याऽधिक्याद्। पीताभः, ईषत् कामलावान्। पूतिः दुर्गन्धिरम्लश्च य उद्गारः। तथा हृतकण्ठदाहः, हृत्प्रदेशे आमाशयोपलक्षिते, कण्ठे च दहनवद् ज्वाला अम्लपित्तहेतुका। तथा अरुचिः, भोजने अस्पृहा। तैरर्दितः पीड़ित इति शेषेणान्वयः। अत्र क्वचिदम्लपित्तस्य, क्वचित् तिक्तपित्तस्य वा वमनमपि दृश्यते—इति स्मर्त्तव्यम्। अन्यत् स्पष्टम् ॥३४६-५०॥

अथ कफजां ग्रहणीमाह—**अव्यायामादिति**। गुरुपदं तु द्रव्यगुरु, मात्रागुरुचेत्युभयार्थम्। अतिस्निग्धं अत्यर्थस्नेहयुक्तम्। उपलक्षणेन अतिमधुराद्यपि ग्रहणीयम्। अकाले इति ग्रीष्मेतरऋतौ भुक्तमात्रं च—तादृशदिवास्वापस्यैव दोषलत्वाद्। सोऽपि निरन्नस्य न दोषाय। त एते सर्व एव प्रसिद्धाः कफप्रकोपहेतवः। तस्मात् कुपितः प्रवृद्धः उन्मार्गगामी च कफः अग्निं हन्ति, हतप्रायं करोति, पाचकाग्निक्रियां भूम्ना निरुणद्धि, आग्नेयरसानां निःस्रवाल्पत्वादित्यर्थः। अथ लिङ्गान्याह तस्यान्नमित्यादि। हृल्लासः हृत्पीड़या सह शुष्कवमिः कफोत्क्लेशो वा।

हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्।
भिन्नाम श्लेष्मसंसृष्ट-गुरुवर्चःप्रवर्त्तनम्।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥३५१-५४॥

(अथ त्रिदोषजग्रहणीलिङ्गानि)

पृथग् वातादिनिर्दिष्ट-हेतु-लिङ्गसमागमे।
त्रिदोषग्रहणीं विद्यात् कृच्छ्रसाध्या च सा भृशम् ॥३५५॥

(अथ संग्रहग्रहणीलिङ्गानि)

साटोपालस्यदौर्बल्यं सकटी-कुक्षिवेदनम्।
आमं बहु सपैच्छिल्यं घनं द्रवमथापि वा।

आस्यस्य मुखाभ्यन्तरस्य कफलिप्तत्वम्, माधुर्यञ्च मधुरस्वादानुभवोऽपि। कासः कफजकासः। ष्ठीवनं मुखे मुहुर्लालास्रावहेतुकम्। पीनसः प्रतिश्यायः नासास्रावरूपः। हृदयं हृत्प्रदेशम्। स्त्यानं—संहतम् गुरुवस्तुपूर्णमिव मन्यते रोगीति शेषः। स्तिमितं सुषुप्तमिव, आमाशयस्य स्वाभाविकसङ्कोचाल्पत्वात्। दुष्टः, मधुरश्च उद्गारः,—दग्धगुड़गन्धास्वादः। सदनं सर्वाङ्गावसादः! स्त्रीषु अहर्षणम्, कामोद्रेकस्य अभावः, मैथुनशक्तेरल्पत्वं वा। भिन्नं नातिसान्द्रं तरलं वा। आममपक्वम्। श्लेष्मा श्वेतपिच्छिलवस्तु। ताभ्यां संसृष्टं संयुतम्। गुरु, जले निमज्जनशीलं यद् वर्चः शकृत्, तस्य प्रवर्त्तनमुत्सर्गः। अकृशस्य स्थूलस्यापि दौर्बल्यं भ्रमणादिव्यायामशक्तेरभावः अल्पत्व वा। आलस्यं तु सर्वकार्येषु अस्पृहा मनःसादहेतुका। कफात्मके कफप्रधाने। ग्रहणीरोगे इति शेषः ॥३५१-५४॥

अथ त्रिदोषजग्रहणीमाह—**पृथगिति**। पृथग् एकैकशो वर्णितानां वातजादीनां ग्रहणीरोगाणां हेतु-लिङ्गसमागमे, हेतूना निदानानां, लिङ्गानां लक्षणानाञ्च यथासम्भवमेकत्रावस्थाने त्रिदोषजां ग्रहणीं जानीयात्। सा च भृशमत्यर्थं कष्टसाध्या ॥३५५॥

अथ संग्रहग्रहणीलिङ्गान्याह — **साटोपेति**। आटोपो गुड़गुड़ाशब्दः। कटीवेदनया * कुक्षिवेदनया च सहितम्। कदाचिद् घनं कदाचिद् द्रवम्, उभयं वा

---

* कटिः कटी – इति द्विविधमपि रूपं साधु, भूमिः भूमी—इत्यादिवत्। अत्र "कृदिकारादक्तिनः"—इति पाणिनीयं सूत्रम्।

पक्षान्मासाद् दशाहाद् वा नित्यं वापि स मुञ्चति।
क्लिश्यमानो दिवा प्रायो रात्रौ शान्तिं च विन्दति॥
चिरानुबन्धिनी सेयं दुर्ज्ञेया दुरुपक्रमा।
सामवातभवा नाम्ना संग्रहग्रहणी मता * ॥३५६-५८॥

(अथ राजग्रहणीलिङ्गानि †)

स्निग्धं स्फीतं भूरि शुक्लं पुरीषं
प्रातः प्रातर्वारिवद् वा कदाचित्।
जिह्वा श्लक्ष्णा स-क्षता पाण्डुवर्णा
लिङ्गानि स्यू राजपूर्वग्रहण्याम्॥३५९॥

युगपद्। पक्षान्मासादित्याद्यभिधानं कालानिश्चयं सूचयति। तेन पञ्चभिः षड्भिर्वा दिनैः कदाचित्। दिवा विशेषेण क्लिश्यमान आटोप-मलभेदादिलिङ्गैः कष्टमनुभवन्। रात्रौ शान्तिं विन्दति लभते। तदेतत् संग्रहग्रहण्या विशिष्टं लिङ्गम् प्रायिकम्। सर्वाणि च तानि लिङ्गानि साम-मलसञ्चयहेतोर्भवन्तीति संग्रहग्रहणी—संज्ञा। वाग्भटेनापि "सञ्चयाच्चोपवेशयेद्" इत्युक्त्या सूचित एवासौ ग्रहणीभेदः। वस्तुतस्तु वातजग्रहण्येव भूयिष्ठामयुक्ता संग्रहग्रहणी भवति। अतश्चरकादिसंहितासु नासौ पृथग् वर्णिता ‡। इह तस्याः पृथगभिधानं तु तादृशरोगस्य बहुधा दर्शनात्। वक्ष्यमाणा क्षतजग्रहण्यपि प्रायेण तादृश्येव किञ्चिद् भिन्ना, उभावपि तौ ग्रहणीभेदौ प्रवाहिका-रोगशेषजौ प्रायः। पुराणक्षतानि तु संग्रहग्रहण्यां तिष्ठन्त्यपि न रक्तं स्रवन्तीति विशेषः। सर्वमिदं स्वरोगिषु यथा यथादृष्टमस्माभिर्लिखितम्, प्रमाणीकृतञ्च तत्र प्रवाहिकाशेषजत्वं मलपरीक्षया बहुधा, मृतकान्त्रपरीक्षया च॥३५६-५८॥

अथ लक्षणविशेषोपलक्षितमन्यं ग्रहणीभेदमाह—**स्निग्धमिति**। स्निग्धं अपक्वस्नेहबहुलम्। स्फीतं अन्तःफेनबहुलत्वात् सान्द्रमपि वाताध्मातमिव। शुक्लं, स्वाभाविकयाकृतपित्तक्षरणस्याभावादल्पत्वाद् वा। प्रातः प्रातरिति प्रायिकं, कदाचिदपराह्णेऽपि। वारिवदित्यपि क्वचिदेव। जिह्वा श्लक्ष्णा चिक्कणा, स्वादांकुराणां विरलत्वात् काचवन्मसृणेति फलितार्थः। सक्षतेति च विशिष्टलिङ्गम्,

---

* संग्रहग्रहणी—Chronic Recurring Diarrhœa. † राजग्रहणी—Sprue. ‡ प्रचलित-माधवनिदाने दृष्टमपि संग्रहग्रहणीवर्णनं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति, विजयरक्षितेन तत्पाठस्य अग्रहणात्।

धान्योद्भूतं नोपशेतेऽस्य चान्नं
फलं दुग्धं प्राज्यमेवोपशेते।
तक्रं मांसं पच्यते प्रायशश्च
राज्ञां रोगो दुर्ग्रहोऽयं सुघोरः ॥३६०॥

(अथ क्षतजग्रहणीलिङ्गानि *)

प्रवाहिकायां शान्तायां प्रच्छन्नैरन्त्रजक्षतैः।
ग्रहणीसदृशैर्लिङ्गैः क्षतजा ग्रहणी भवेत्।
काले काले प्रवर्त्तेत संग्रहग्रहणीव सा।
सहामशोणितं वर्चः स मुंचेत् प्रत्यहं क्वचित् ॥३६१-६२॥

प्रायशो मुखजिह्वाक्षतानां दर्शनात्। पाण्डुवर्णा श्वेताभा, क्रमशो रक्ताल्पत्वहेतोः। राजपूर्वा ग्रहणीति राजग्रहणी। राज्ञां राजतुल्यानां चेयं भूम्ना भवतीति तथासंज्ञा। वस्तुतस्तु भूयिष्ठस्नेह-मधुराहारादेव रोगोऽयं कफपित्तोल्वणः सम्भवति धनिनामेव, न दरिद्राणाम् प्रायः—इत्यभिप्रायः ॥३५९॥

अन्यच्च भेदकलक्षणमाह उपशयानुपशयाभ्याम्—**धान्योद्भूतमिति।** धान्यपदेन चेह शूकधान्यं यवतण्डुलादि, शमीधान्यं मुद्गमसूरादि चेत्युभयमपि ग्रहणीयम्। अस्य रोगिणः। नोपशेते न सम्यग् जीर्यते, ततश्चातीसारादिं जनयति। तथापि फलं दुग्धं च प्राज्यं प्रचुरमेव जीर्यते, तक्रं मांसञ्च प्रायशः—इति वैचित्र्यम्। राज्ञामित्युपलक्षणम्, यावद् राजतुल्यानामपि—इत्यभिप्रायः। दुर्ग्रहो दुर्विज्ञेयः ॥३६०॥

अथ क्षतजग्रहणीमाह — **प्रवाहिकायामिति।** प्रवाहिकायामन्त्रेषु विशेषतश्च वृहदन्त्रे क्षतानि सम्भवन्तीत्युक्तपूर्वम्। प्रच्छन्नैः बृहदन्त्राभ्यन्तरीय-कलायां मांसादिमयवृत्तौ च निगूढैः। इदं स्थानसम्प्राप्त्यभिधानम्। लिङ्गानि तु ग्रहणीसदृशानि, अत उक्तं संग्रहग्रहणीव सेति। काले काले—इत्युक्ते कतिचित्कालं प्रच्छन्नलिङ्गापि सा पुनः पुनः स्फुटीभवतीत्युन्नेयम्। वस्तुतस्तु जीर्णप्रवाहिकाभेदोऽयं संग्रहग्रहणीवत् प्रतिभाति—इति सुवचम्। भेदकलिङ्गन्तु संग्रहग्रहणीतः सहामशोणितमित्यनेन प्रतिपादितः ॥३६१-६२॥

---

* क्षतजा ग्रहणी—Chronic Dysenteric Diarrhœa.

(अथ क्षयजग्रहणी *)

उदर्यक्षयरोगेषु यक्ष्मण्यपि च दुर्द्धरः।
अतीसारो मुहुर्यस्तु क्षयजा ग्रहणी हि सा।
उपद्रवं वा लिङ्गं वा केचिदाचक्षते तु ताम्।
पिच्छाशोणितवांश्चात्र विड्भेदः प्रायशो भवेत्॥३६३-६४॥

(अथ निर्मोकग्रहणी †)

सशूलं चामभूयिष्ठं पिच्छाशोणितसंयुतम्।
सर्पनिर्मोकसदृशैरन्त्रान्तरकलामयैः।
पुरीषं सह निर्मोकैः सान्द्रं द्रवमथापि वा।
मुहुर्यत्रातिसार्येत विबन्धश्चान्तरान्तरा।
चिरानुबन्धिनी कृच्छ्रा निर्मोकग्रहणी तु सा।
प्रायः स्त्रीणां वातलानां शिशूनामपि दृश्यते॥३६५-६७॥

अथ क्षयजां ग्रहणीमाह—**उदर्येति**। क्षयरोगो हि प्राधान्यतो द्विविधः—उरस्यः उदर्यश्चेति ‡। तत्र उदर्यः अन्त्रान्तरीयश्लेष्मलकलासु अन्त्रमूलिकग्रन्थिषु, उदर्याख्यमहाकलायां वा भवति। उरस्यस्तु राजयक्ष्मा फुस्फुसाश्रयी। तयोराद्ये प्रायेणादित एवातिसारो भवति, तिष्ठति च चिराय। द्वितीये तु राजयक्ष्मणः परिणामे स दृश्यते, क्वचित् मध्यावस्थायामपि। क्षयजीवाणूनां विशिष्टनिदानता तूभयत्र समाना। उपद्रव इति। ननु अतीसारो हि राजयक्ष्मणो लिङ्गमेव श्रूयते—षड्रूपे राजयक्ष्मणि तस्य पठितत्वादिति चेत्, मैवम्। असाध्यावस्थायामेव तस्य प्रायोदृष्टत्वात्। अतएव उपद्रवो वेत्युक्तम्॥३६३-६४॥

अथ निर्मोकग्रहणीमाह—**सशूलमिति**। अन्त्रान्तरकलामयैरिति प्रायः क्षुद्रान्त्रान्तरीया या सर्पनिर्मोकवत् स्थानच्युता कला झिल्ली तन्मयैस्तन्निर्मितैः।

---

* क्षयजग्रहणी — Tubercular Diarrhoea. † निर्मोकग्रहणी—Membranous Diarrhoea. ‡ बहुविधो वा क्षयो गम्भीरदृशाम्, क्षयजीवाणुजन्यत्वेन आश्रयभेदेन च—इति क्षयरोगाधिकारे वक्ष्यते। प्राचां ग्रन्थेषु तु उरस्य एव क्षयो वर्णितः, सर्वधातुशोषश्च।

(अथ साध्यासाध्यविवेकः)

वालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या प्रायेण वलमांसक्षये सदा ॥३६८॥
अतीसारे ग्रहण्याश्च दश कष्टा उपद्रवाः।
ज्वरः शोथश्च शूलश्च भृशं हिक्का तथा वमिः।
आध्मानं च प्रलापश्च तीव्रारोचक एव च।
श्वासश्च पाण्डुता चेति सम्भवन्ति तु नैकधा॥३६९-७०॥
अरिष्टलक्षणान्युक्तान्यतीसारे च यानि हि।
तान्यपि ग्रहणीरोगे तादृशानि विदुर्बुधाः ॥३७१॥

मुहुः वारं वारम्। न तु प्रत्यहमित्याह—विबन्ध इति। वातलानां वायुप्रकृतीनां योषापस्माराादिप्रवणानाम्, तथाविधानां शिशूनाञ्च। अन्यत् स्पष्टम् ॥३६५-६७॥

अथ ग्रहण्याः साध्यासाध्यविवेकमाह—**वालक** इति। इदं सामान्यतः उक्तम्। दारुणा रक्त-प्रवाहिका क्षतजा ग्रहणी च वालके कृच्छ्रसाध्या, असाध्या वा दुरुपक्रमात्। यूनि युवके युवतौ च कृच्छ्रा कृच्छ्रसाध्या। वृद्धे पञ्चाशदूर्ध्ववयस्के (इदानीं जरायाः शीघ्रसम्भवात्)। वलमांसक्षये—अतिदुर्वले कृशीभूते च रोगिणि, सदा सर्वस्मिन् काले वयोनैरपेक्ष्येण असाध्या। प्रायेणेति पदमुभयतो योज्यम्, तेन कदाचित् तादृशोऽपि जीवति सम्यगुपक्रमात् ॥३६८॥

अथ असाध्यलिङ्गानि अतीसार-ग्रहण्योस्तुल्यानि दर्शयति **अतीसारेति**। ते च दश उपद्रवाः। तत्रापि ज्वरशोथाध्मान-प्रलाप-तीव्रारोचकपाण्डुताः विशेषेण प्राणघातकाः। न च ते युगपत् सम्भवन्ति, न चेकेन वोपद्रवेणाऽसाध्यता —इत्याशयेणाह—सम्भवन्ति तु नैकधा। नैकधा बहुधा, द्विशस्त्रिशः पञ्चशो वा। एवं सम्भवन्तश्च ते असाध्यतामाख्यापयन्ति। अन्यत् स्पष्टम् ॥३६९-७०॥

अपराण्यसाध्यलिङ्गानि पूर्वोक्तानि स्मारयति—**अरिष्टलक्षणानीति**। नियतमरणख्यापकानि यानि लक्षणान्यतीसारे वर्णितान्यत्र ग्रन्थेऽन्यत्र च, तानि ग्रहणीरोगेऽपि तादृशानि। ननु घटीयन्त्राख्या ग्रहणी कथं नोक्ता? श्रूयते हि माधवीय निदाने—"स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटी ध्वनिः। तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥" इति चेत्, उच्यते। तादृशग्रहणीगदस्य विजयरक्षितेन अनादृतत्वादस्माभिरदृष्टत्वाच्च नात्र ग्रहणम् ॥३७१॥

सिद्धान्तनिदानम् ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथ अम्लपित्तनिदानम् ।

(निरुक्तिः) विदग्धाजीर्णमुक्तं यत् तच्चेद् भूयः प्रवर्त्तते ।
पूर्वोक्तैः पित्तलिङ्गैस्तदम्लपित्तं विदुर्बुधाः ॥३७२॥
(निदानम्) तीक्ष्णाम्ल-कटु-रूक्षान्न-पानानामतिसेवनात् ।
अकाले भोजनात् कालेऽनशनाद् विषमाशनात् ।
विरुद्धभोजनादन्न-हीनमद्यनिषेवणात् ।
भूर्यम्लरसनिःस्रावेणाम्लपित्तस्य सम्भवः ॥३७३-७४॥
(सम्प्राप्तिः) आमाशये स्रवत्यम्लो रसो भुक्तागमात् परम् ।
वैदलामिषदुग्धादि पाककृत् स विशेषतः ॥

अथ ग्रहण्या घनिष्ठसम्बन्धमम्लपित्तं निर्वक्ति—**विदग्धेति** । विदग्धमम्लाधिकमजीर्णं विदग्धाजीर्णम्। किञ्चिद्विदाहस्तु आमाशयेऽम्लरसनिःस्रवात् स्वाभाविकः। स एव मात्राधिकश्चेत्तदा विदग्धाजीर्णं सम्भवति तदेव भूयो भवदम्लपित्ताख्यं रोगं जनयति। पित्तलिंगैः पूर्वोक्तैः विदग्धाजीर्णोक्तैः तृष्णा-मोह-दाहादिभिः। अम्लपित्तसंज्ञा तु अम्लमम्लाधिकं पित्तं यत्रेति व्याख्येया ॥३७२॥

अम्लपित्त निदानमाह—**तीक्ष्णेति** । तीक्ष्णमिति विशेषणमम्लादिभिस्त्रिभिः सह योज्यम्। न हि तावदीषदम्लादिसेवनादम्लपित्तं भवति, किन्तर्हि ? तीक्ष्णकट्वम्लादीनामतिमात्रं सेवनात्। सातत्येन चेत्यपि योजनीयम्। अकाले भोजनात् इति अतीतकालमप्राप्तकालं च भोजनात्। काले प्राप्तकालम्। अनशनादभोजनात्। विरुद्धभोजनात् विरुद्धत्वेनोक्तानां दुग्धामिषादीनां समकालमुपयोगात्। ततसात्म्ये तु न दोषः। अन्नहीनस्य मद्यस्य निषेवणाच्च। तादृशं हि मद्यमतितीक्ष्णत्वेन विशेषाद् विदाहकृत्। तान्येतानि षड्विधानि निदानानि मुख्यानि ॥३७३-७४॥

अथ अम्लपित्तस्य सम्प्राप्तिं स्वाभाविकाम्लरसनिःस्रावस्मरणमुखेन दर्शयति—**आमाशय** इति। उक्तपूर्वश्चायमर्थः कायाग्निव्याख्याने, शारीरे च।

मात्राधिक्ये रसस्यास्य भुक्तं भूयो विदह्यते।
तथा विदाहतस्तस्मादम्लपित्तस्य सम्भवः ॥३७५-७६॥
अभुञ्जानस्य कालेऽन्नं रसोऽम्लो भूरि चेत् स्रवेत्।
आमाशयान्तरीयां स संक्षिणोति कलां क्वचित्।
तेनास्य विविधा रोगा जायन्ते भृशदारुणाः।
आमाशयक्षतं शूलं रक्तपित्तं च कुत्रचित् ॥३७७-७८॥

(लिङ्गानि)

अम्लोद्गारः कण्ठ-हृद्-दाहजुष्ट-
स्तिक्तास्यत्वं शीर्षपीडा क्लमश्च।
वान्तिर्भ्रान्तिर्दाहयुग् वाऽतिसारो
लिङ्गान्येतान्यम्लपित्ते व्यवस्येत् ॥३७९॥

चरकेऽप्युक्तम्—"परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः"—इत्यादि। स चामाशयिकरसः अम्लत्वात् पाचककिण्वविशेषवत्त्वाच्च वैदलादीनां पाककृद्। अस्य च रसस्य मात्राधिक्ये भूयिष्ठपरिमाणत्वे। भूयः अधिकतरम्। अन्यत् स्पष्टम् ॥३७५-७६॥

अथ प्रसङ्गादामाशयादिक्षतहेतुमपि वर्णयति — **अभुञ्जानस्येति।** स्वभावो ह्ययमामाशयस्य यत् भोजनकाले प्राप्ते अभुञ्जानस्यापि तत्राम्लरसः क्षरति नियमेन। स चाग्निवत्तीक्ष्णत्वात् निरिन्धनो दहति कलामामाशयान्तरीयाम्। अत एवाह—कलां संक्षिणोति घुणवद् भक्षयति। तादृश भक्षणञ्च न सर्वत्र, किन्त्वेकदेश एव। तद्देशस्य निर्माण दौर्बल्यात् वक्ष्यमाणनिगीर्णपूयकणादि-संक्रमेण दूषितत्वाच्च। अतएवाह क्वचिदिति। अन्यत् स्पष्टम् ॥३७७-७८॥

अथाम्लपित्तरोगलक्षणानि विशदीकरोति—**अम्लोद्गार** इति। क्लमः अकृतश्रमस्यापि क्लान्तिः। भ्रान्तिः चक्रारूढस्येवानुभवः। दाहयुगतीसारः शकृतोऽम्लीभावात्। स्वाभाविकं हि शकृत् स्तोकेन क्षारस्वभावं भवति। वम्यतीसारौ च क्वचिदेव युगपद् भवतः, तथापि पूर्णलक्षणेऽम्लपित्ते दृश्येत एव। व्यवस्येत् निश्चिनुयात् ॥३७९॥

अनुबन्धे तु वातस्य श्लेष्मणश्चोभयस्य च।
अम्लपित्तगदः प्रायो भिषजां मोहकारकः।
कम्पः प्रलापो मूर्च्छा च शूलो गात्रावसन्नता।
मोहो भ्रमो रोमहर्षो भवन्त्यनिलकोपतः ॥३८०-८१॥
कफनिष्ठीवनं जाड्यं गौरवारुचिशीतताः।
कण्डूर्निद्राग्निमान्द्यं च वमिः सादः कफोच्छ्रयात् ॥३८२॥
भृशं पित्तोल्वणत्वे तु दाहोऽतिसरणं भ्रमः।
अम्ले कफानिलप्राये सर्वलक्षणसम्भवः ॥३८३॥

(उपद्रवाः)

पित्तेन शोणिते दुष्टे विदग्धेनापचारतः।
अम्लपित्तगदः कुर्याद् घोरानेतानुपद्रवान्।

अथ वाताद्यनुबन्धे अम्लपित्तस्य लिङ्गवैचित्र्यमाह **अनुबन्धे**—इति। भिषजां मोहकारकः—रोगान्तरसन्देहप्रदः, रोगविनिश्चयासामर्थ्यकरश्च। कम्पः हस्तपादादीनां सर्वशरीरस्य वा। मूर्च्छा क्षणिकसंज्ञानाशः। तानि च लिङ्गानि वातलानां क्वचिदेव। तान्येतानि वातानुबन्ध्यम्लपित्तं सूचयन्ति इतरलक्षण-सद्भावे ॥३८०-८१॥

कफपित्तानुबन्धलक्षणान्याह—**कफनिष्ठीवन**मित्यादिना। कफोच्छ्रयात् कफप्रकोपात्। जाड्यं जड़ता वागादीनां, स्तैमित्यं वा। भृशं पित्तोल्वणत्वे अति-मात्रपित्ताधिक्ये। अथ सान्निपातिकमम्लपित्तमाह—अम्ले इति। अम्लाधिक्यं हि पित्तभवम्। तच्चेत् कफानिललिङ्गोपेतं भवति, तर्हि सान्निपातिकम् ॥३८२-८३॥

अथ अम्लपित्तोपद्रवानाह—**पित्तेनेति।** पित्तेन अम्लाधिक्यात् विदाहं गतेन निःस्रवत्रयेण। वस्तुतस्तु विदग्धपित्तदूषितान्नरसेन सर्वकाय-सञ्चारिणा। अपचारतः सत्यप्यम्लपित्ते अतिकट्वम्ल-तीक्ष्णमद्यादिसेवनात् रौद्रादि-सन्तापाच्च। शीतपित्तोदर्दकोठाः सर्व एव वरटीदष्टसंकाशास्त्वगुत्सेधाः, ते यतस्ततोभाविनः क्षणिकाः। उदर्दलक्षणन्तु—"वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः। सकण्डूस्वेदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्" इति। भेदस्तु शीतपित्तोदर्दयोः यथा—"वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः" इति केचित्। इदं चात्र

शीतपित्तमुदर्दं च कोठं कण्डूं च मण्डलम्।
विचर्चिकां च दुःसाध्यां विस्फोट-पिडकादि च।
रक्तपित्तञ्चोभयगं ग्रहण्यामाशयक्षतात्।
अम्लपित्तभवा दृष्टा ग्रहण्याद्या गदा अपि ॥३८४-८६॥

(साध्यासाध्यलक्षणम्)

यत्नेन साध्यं नवमम्लपित्तं
चिरोत्थितं शूलयुतं च कष्टम्।
उपेक्षितं चातिपुराणमेतत्
प्रायेण याप्यं भवतीति धीराः ॥३८७॥

स्मर्त्तव्यम्—शीतोपशयं खलु शीतपित्तम्, पित्तसंसृष्टवातजन्यत्वात्। उदर्दस्तु उष्णोपशयः कफोल्वणत्वात्। उभौ च तौ प्रायः सर्वाङ्गगौ। कोठस्तु—क्षणिकोत्पादविनाशो निरनुबन्धो वरटीदष्टवदेकाङ्गगतः। यत्तु कश्चित्—"सोत्संगैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः। शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्त्तितः"—इति, तच्चिन्त्यम्। उदर्दे मण्डलानामदर्शनात्। न च मण्डलानि क्वचिदपि वरटीदष्टसंस्थानानि, मध्यनिम्नत्वात्। विचर्चिका तु तनुपिडकाचितत्वग्लक्षणा बहुकण्डूयुता, सा विशेषतः शाखासु चिराय दृश्या, क्वचिन्मध्यकायेऽपि। त एते त्वग्रोगा अम्लपित्तस्योपद्रवाः प्रायोदृष्टाः। रक्तपित्तमिति—तद् ऊर्ध्वमधो वा उभयतो वा अकस्माद् रक्तस्रुतिरूपम् प्रायेण आमाशयादिक्षतहेतुकम्। तत्र आमाशयक्षतजं प्रायेणोर्ध्वगम्, ग्रहण्यादिक्षतजन्त्वधोगमिति स्मर्त्तव्यम्। विस्तरस्तु रक्तपित्ताधिकारे वक्ष्यते। अन्यत् स्पष्टम् ॥३८४-८६॥

अम्लपित्तस्य साध्यासाध्यविवेकमाह—**यत्नेनेति**। यत्नेन सम्यक् चिकित्सया क्षार-कषाय-लौहादिसेवनेन, न खलु सुखसाध्यमम्लपित्तमस्ति। कष्टं कष्टसाध्यम्। शूलयुतं च तथा सुतराम्, आमाशयादिक्षतजन्यत्वात्। तल्लक्षणानि चाग्रे अम्लशूलाधिकारे विस्तरेण व्याख्यास्यन्ते। अन्यत् स्पष्टम् ॥३८७॥

अथ अम्लशूलादिविविधशूलाः ।

(निरुक्तिः)

शूलं निखातं हि तनौ यथोग्राम्
रुजां विधत्ते सुचिरं मुहुर्वा ।
मनःशरीरार्त्तिकरं तथैव
शूलाख्यरोगं भिषजो दिशन्ति ॥३८८॥

लिङ्गमात्रन्तु शूलं स्याद् यदि सम्यग् न बुध्यते ।
तन्मूलवैकृत-स्थान-संस्थानैः कृत्स्न आमयः ॥
शूलाश्च[1] विविधा दृष्टा नानाहेतुसमुद्भवाः ।
नानावैकृत-लिङ्गाश्च ते कथ्यन्ते समासतः ॥३८९-९०॥
सर्वेषामपि शूलानां मुख्यं स्यादम्लपित्तजम् ।
द्वेधा तदम्लशूलाख्यमाम-पक्वाशयाश्रयम् ॥

अथ अम्लपित्तानन्तरं तेन घनिष्ठसम्बन्धं शूलरोगं विवक्षुः तन्निरुक्तिमाह—**शूलमिति**। निखातं गभीरप्रोथितम् । सुचिरम् अनल्पकालं व्याप्य, मुहुः पुनः पुनरल्पकालं यावत् । एवञ्च शूलस्य द्विरूपत्वं दर्शितं भवति । दिशन्ति उपदिशन्ति । अन्यत् स्पष्टम् । इदञ्चात्रावधेयम्—आर्षग्रन्थेषु शूलाधिकारः पृथग् न वर्णितः । परं सुश्रुते गुल्माधिकारान्ते शूलानां वर्णनं दृश्यत एव । चरकादीनान्तु मते लिङ्गमात्रं शूलम् ॥३८८॥

अत एवाह—**लिङ्गमात्रमिति**। यद्यपि शूलाख्यं रोगं पृथग् वर्णयन्ति केचिद् आशुकारित्वादिहेतोः, तथापि गम्भीरदृशां लिङ्गमात्रं शूलं स्याद् यदि कृत्स्नः समग्रो रोगः तन्मूलभूतवैकृतेन क्षत-व्रणशोथादिरूपेण, तत्स्थानेन आमाशयादिना, तत्संस्थानैः तल्लिङ्गैश्च सम्यग् न बुध्यते ज्ञायते । यदि तथा बुध्यते तर्हि शूलस्य रोगतया ग्रहणं न दोषायेति भावः । एवञ्चाशेषविशेषरूपेण शूलसम्प्राप्तिः विज्ञेया । विविधाश्च शूला अग्रे वक्ष्यन्ते । ते नानावैकृताः नानालिङ्गाश्च ॥३८९-९०॥

सर्वेषामिति। सर्वेषां वक्ष्यमाणविविधशूलानाम् । अम्लपित्तजं अम्लपित्तहेतुकम् । मुख्यं प्रधानम्, भूयोदृष्टत्वात् कष्टसाध्यत्वाच्च । तद् अम्लशूलाख्यं

---

१ शूलशब्दः उभयलिङ्गः। शूलः = Colic or Neuralgia.

आमाशयक्षतोत्थं यत् तदन्नद्रवसंज्ञकम्।
ग्रहणीक्षतजं शूलं परिणामाह्वयं मतम् ॥३९१-९२॥

(निदानम्)

निदानमम्लशूलस्य सामान्यादम्लपित्तवत्।
विशेषाद् दन्तपूयादि काले चानशनं तथा ॥३९३॥

(सम्प्राप्तिः)

दन्तवेष्टगतं पूयमज्ञानाद् दन्तरोगिभिः।
निगीर्यतेऽणुशो भूयो भोजनेन समं यदि।
आमाशयान्तरीया वा ग्रहण्यन्तरगापि वा।
कला संदूष्यते तेन तथान्यैरपि हेतुभिः।
संदूषितकलायाश्च क्षणनाज्जायते क्षतम्।
तत्राम्लरससम्पातात् शूलस्तावत् प्रवर्त्तते।
क्षारभेषजभोज्याद्यै र्यावदम्लं न शाम्यति।
अधःप्रवृत्तं भुक्तं वा व्यपेताम्लं न यावता ॥३९४-९७॥

शूलं द्वेधा द्विप्रकारमाश्रयभेदेन—आमाशयाश्रयं पक्वाशयाश्रयञ्चेति। तत्र प्रथमम् आमाशयक्षतेन पाचकाम्लरससंयोगजन्यं प्राचामन्नद्रवसंज्ञकम्, अन्नद्रवणकाले तत्-सम्भवात्। द्वितीयं ग्रहणीक्षतजम्, तद्धि भुक्तपरिणामकाले सम्भवति प्रायेणेति। परिणामाह्वयं परिणामसंज्ञकम्। मतं प्राचामेव ॥३९१-९२॥

अथ अम्लशूलनिदानमाह—**निदानमिति**। समानानि तावदुभयत्र कट्वम्लादीनि निदानानि। विशेषात्तु दन्तवेष्टगतं पूयम्। आदिपदेन क्वचित् फिरङ्गादिविषञ्च। काले भोजनकाले प्राप्ते, अनशनम् अभोजनम्। तदा हि स्वभावेन पाचकाम्लरसनिःस्रावो भवति। तत्सम्पर्केण पूयजुष्टाशयान्तरीयकलायां क्षतोत्पत्तिरित्यग्रे वक्ष्यते ॥३९३॥

अम्लशूलसम्प्राप्तिमाह—**दन्तवेष्ट** इति। दन्तवेष्टौ नाम दन्तोदूखल-मण्डलयोरस्थिधरकलासंसक्तौ दृढ़स्नायुसूत्रनिर्मितौ वेष्टनकौ, श्लेष्मलकलापरिवृतौ तौ दन्तमूलानां तदुदूखलेषु सम्यक् प्रबन्धनाय इति (प्रत्यक्षशारीरे)। तद्गतं पूयं तत्र व्रणशोथादिसम्भवम्, तद्धि दन्तानां सम्यगशोधनाद् भवति। दन्तपूयन्तु

(लिङ्गानि)

भुक्तमात्रेऽथवा जीर्यत्यन्न आमाशयस्थिते।
प्रादुर्भवति यच्छूलं वान्ते शान्तिमुपैति च।
नाभेरूर्ध्वं च यत्र स्यात् पीड़नादसहिष्णुता।
अन्नद्रवाख्यं शूलं तत् क्षतामाशयसम्भवम्॥३९८-९९॥
ग्रहण्यां प्रविशत्यन्ने शूलं प्रादुर्भवेत्तु यत्।
काले काले ऽन्वहं वापि भुक्ते शान्तिमुपैति च।
नाभेरधस्तात् पार्श्वे वा पीड़नादसहिष्णुता।
यत्र तत् परिणामाख्यं ग्रहणीक्षतसम्भवम्॥४००-४०१॥

कदाचित् सुस्पष्टं कदाचित् स्तोकेन वा दन्तमूलेषु सञ्चीयते, तदेव अन्न-ताम्बूलादिचर्वणकाले अणुशः सूक्ष्मपूयकणिकाकोटिरूपेण, भोजनेन सह अज्ञानात् निगीर्णं सद् भूरिदोषलं भवति, दूषयति च आमाशयान्तरीयां श्लेष्मलकलाम्। ततः सन्दूषितकलायाः क्षणनात् मूषिकभक्षितवत् क्षतं सम्भवति, तत्र च क्षते स्वाभाविकस्य मात्राधिकस्य वा पाचकाम्लरसस्य सम्पातात् स्पर्शनात् शूलः प्रवर्त्तते। स च तावदेव—यावत् क्षारभेषजैः यवक्षारादिसेवनैः भोज्याद्यैः पिच्छिलान्नपानैश्च अम्लं अम्लरसः न शाम्यति। तत्प्रशमनस्य प्रकारान्तरमाह—अधःप्रवृत्तमिति। अधःप्रवृत्तमन्त्रेषु कालेन प्रविष्टं भुक्तं, यावता कालेन व्यपेताम्लं याकृतपित्तादिक्षाररसेन विदूरिताम्लरसं भवतीति शेषः॥३९४-९७॥

अथ अन्नद्रवशूल-परिणामशूलयोर्लिङ्गान्याह—**भुक्तमात्र** इति। भुक्तमात्रे मुखलालया क्लेदनश्लेष्मणा च भुक्तस्य द्रवीभावं गते आमाशयस्थिते अन्ने, जीर्यति पाचकाम्लरसप्रभावेन पाकं गच्छति। वान्ते वमनेन बहिर्निःक्षिप्ते भुक्ते इति शेषः। नाभेरूर्ध्वं हृदयाधरिकप्रदेशे, तत्रैव आमाशयस्यावस्थानात्। पीड़नात् अङ्गुलि-चतुष्टयेन गम्भीरस्पर्शनात्। असहिष्णुता रुजानुभवः। अन्यत् स्पष्टम्॥३९८-९९॥

अथ परिणामशूललिङ्गान्याह — **ग्रहण्यामिति।** अन्ने भुक्तवस्तुनि ग्रहण्यां प्रविशति आमाशयात् क्षुद्रान्त्रस्याद्यभागे प्रच्यवति। काले काले कियत्काल-व्यवधानेन। अन्वहं प्रत्यहं वा—इति विविधाविर्भावं परिणामशूलस्य सूचयति। अन्यच्चास्य भेदकलिङ्गमाह—भुक्ते शान्तिमुपैति चेति। अन्नद्रवशूले भुक्ते न शान्तिः प्रत्युत वृद्धिरेव शूलस्य। परिणामशूले तु सत्यपि शूले यदि स्वल्पं पिच्छिलान्नं

तत्राद्यं प्रायशो यूनां यथेच्छाहारभोजिनाम्।
द्वितीयं प्रौढ़वयसां भूम्ना पुंसां च दृश्यते ॥४०२॥
प्रायेणालक्षितं जातु भूरि चास्य स्रवेदसृक्।
आशयक्षतसम्भूतमूर्ध्वं वाधो द्विधापि वा।
वमिर्मूर्च्छातिसादश्च तत्र स्युः प्राणघातकाः।
छिद्राशयत्वं वा क्वापि सद्योमारकमेव तत् ॥४०३-४०४॥

(प्रसङ्गादन्ये शूलभेदाः)

नासा-कर्ण-शिरोनेत्र-शाखा-मुष्कादिसम्भवाः।
आशयप्रभवाश्चापि शूला नानाविधा नृणाम् ॥४०५॥

भुज्यते, तदा प्रायेण शूलशान्तिः कथञ्चिद् भवतीति विशेषः। अन्यदपि परीक्षामूलं भेदकलिङ्गमाह—नाभेरिति नाभेरुभयतोऽधस्ताच्च ग्रहणीस्थानं, तत्र पीड़नाद् अंगुलिचतुष्टयेन गभीरस्पर्शनादसहिष्णुतेति ॥४००-४०१॥

अथानयोः शूलयोर्वयोऽवस्थानुसारेण प्रादुर्भावं दर्शयति—**तत्राद्यमिति**। यूनां युवकानां युवतीनाञ्च। यथेच्छाहारभोजिनामित्यनेन तेषां यदृच्छया कट्वम्लादिभोजनमकालभोजनञ्च सूचितं भवति। प्रायश इत्युक्तेः कदाचिद् बालानामपि तद् दृश्यते इति सूच्यते। द्वितीयं परिणामशूलन्तु भूम्ना प्राचुर्येण प्रौढ़वयसां पुंसां स्त्रीणाञ्च, तत्रापि पुंसां विशेषेण—इत्यभिसन्धिः ॥४०२॥

अथ द्विविधेऽपि शूले कादाचित्कं प्राणसंकटं लक्षणमाह—**अलक्षित-मिति**। अलक्षितं वान्तवस्तुनि स्थूलदृष्ट्या अनभिज्ञातम्[१], तत् प्रायेण भवति। जातु कदाचित्तु भूरि प्रचुरम् असृग् रक्तमूर्ध्वं वा अधो वा उभयतो वा स्रवेत्। कुतस्त्यदिति रक्तं विशिनष्टि—आशयक्षत[२]सम्भूतम्। अत्र आशयपदेन आमाशय-ग्रहण्योर्ग्रहणम्, प्रकरणप्राप्तत्वात्। ऊर्ध्वं मुखेनामाशयतः, अधः पायुमार्गेण ग्रहणीतः। उभयतो वा उभयम्। अत्र प्राणहरोपद्रवानाह—वमिः मुहुर्वमनं, मूर्च्छा संज्ञानाशः, अतिसादः हृद्यन्त्रस्यातिदौर्बल्यात्। क्वचित् छिद्राशयत्वं[३] वा क्षतस्य छिद्री-भावात्। अन्यत् स्पष्टम् ॥४०३-४०४॥

अथ प्रसङ्गाद् अन्येऽपि शूलभेदा उच्यन्ते—**नासाकर्णेति**। शाखाः

१। सूक्ष्मदर्शकयन्त्रसहायेन चक्षुषा तु दृश्यमेव, आधुनिकयौगिकपरीक्षयाऽनुमेयञ्च। २। Gastric ulcer & Duodenal ulcer. ३। छिद्राशयत्वं छिद्रोदरसंज्ञया प्रसिद्धम्। आंग्लनाम—Perforation. तत्त कदाचित् प्रवाहिकायामान्त्रिकज्वरेऽन्यत्र च सम्भवति।

(शूलानां सम्प्रातिः)

संज्ञावहानां नाडीनां प्रतानोद्वेजनोद्भवाः।
सर्वेऽपि शूलास्तेनाहुः शूलानामनिलः प्रभुः॥
दोषलिङ्गैस्तु कर्त्तव्या दोषसंसर्गकल्पना।
अभिधानञ्च शूलानां प्रायशः स्थानभेदतः॥४०६-४०७॥
स्रोतोनिरोधोदावर्त्तौ व्रणशोथस्तथा क्षतम्।
आघातः कार्यवैषम्यं दौर्बल्यं शूलभूमयः॥४०८॥

बाहुद्वयं सक्थिद्वयञ्च साङ्गोपांगम्। आदिपदेन बीजकोषादीनां ग्रहणम्। आशयप्रभवाः आमाशय-पक्वाशय-मूत्राशयादिसमुत्थाः॥४०५॥

सर्वशूलसाधारणीं शारीरमूलां संप्राप्तिमाह — **संज्ञावहानामिति।** द्विविधाः हि नाड्यः—संज्ञावहाः चेष्टावहाश्च, तासु संज्ञावहाः प्रायेण सर्वत्र शरीरे स्थूलसूक्ष्मप्रतानैरास्तृता इति विस्तरेण दर्शितं प्रत्यक्षशारीरे, तेषाञ्च प्रतानानां उद्वेजनेन तीव्रोत्तेजनाद् उद्भवन्ति तीव्राः शूलाः। अतएवाहुः प्राञ्चः—शूलानामनिलः प्रभुरिति। ननु इतरदोषाणामपि लिङ्गानि दृश्यन्ते शूलेषु, तत कथम् अनिलस्यैव प्रभुत्वमिति चेद्, उच्यते। दोषलिंगैः कफपित्तयोर्लक्षणैः संसर्गः संसृष्टत्वम् तस्य कल्पना कर्त्तव्या, यथा दाहादिसंसृष्टशूले पित्तसंसर्गकल्पना शैत्यगौरवादिदर्शने कफसंसर्गकल्पना चेति। शूलानां संज्ञाकरणवीजं दर्शयति—अभिधानञ्चेति। स्थानभेदतः संज्ञा यथा—आमाशयशूलं पक्वाशयशूलमित्यादि। कदाचिद् अन्यथापि संज्ञानिष्पत्तिः यथा—अन्नद्रवशूलं परिणामशूलमित्यादि॥४०६-४०७॥

अथ विविधशूलानां क्षेत्राण्याह — **स्रोतोनिरोध** इति। स्रोतसां परिस्फुट-नलिकाकाराणां निरोधः मार्गनिरोधो वक्ष्यमाणः। उदावर्त्तः वेगनिरोधाजीर्णादिहेतोः प्रकुपितस्य वायोः उदावर्त्तनं उन्मार्गगमनं, येन न सम्यक् प्रवर्त्तन्ते वातमूत्रपूरीषादीनि। व्रणशोथः स्थानविशेषस्य पाकोन्मुखावस्था। यद्यपि न सर्वत्र व्रणशोथानन्तरं पूयादिसञ्चारो भवति तथापि तत्र तत्र सन्ताप-रुजा-रक्तिमादिलिङ्गानि भवन्त्येव—इति स्मर्त्तव्यम्। क्षतं तु किञ्चित्स्थानावच्छेदेन त्वङ्-मांस-श्लेष्मलकलादीनां विनाशात् सम्भवति। आघातः अभिघातः। कार्यवैषम्यं पेशीनां तदुत्तेजकनाडीनाञ्च यानि कार्याणि संकोचनोत्तेजनादिरूपाणि तेषां वैषम्यं स्वाभाविकक्रियावैपरीत्येन प्रवृत्तिः। दौर्बल्यं सर्वधातूनामाशयादीनाञ्च। शूलभूमयः शूलोद्भवक्षेत्राणि। तत्सर्वमग्रे दृष्टान्तैः स्फुटीकरिष्यते॥४०८॥

(अथ स्रोतोनिरोधजाः शूलाः)

स्रोतोनिरोधजाः शूलाः स्फुटस्रोतोऽवरोधतः।
यथाऽश्मर्यां शर्करया गवीन्यादिनिरोधनात्।
कटिपार्श्वाश्रयं शूलं हृल्लासश्छर्दिरेव च॥
पित्तकोषीयनलिकां रोचना निरुणद्धि चेत्।
तदापि तुल्यहेतुत्वात् शूलं छर्द्यादयस्तथा॥४०९-१०॥

(अथ उदावर्त्तजाः शूलाः)

वात-मूत्र-पुरीषादेर्वेगरोधभवास्तु ये।
त उदावर्त्तजाः शूला हिक्काध्मानादिसंयुताः।
अजीर्णजाश्च ये शूलास्तेऽपि प्रायस्तथाविधाः॥४११॥

स्रोतोनिरोधजा—इति। स्रोतांसि चात्र परिस्फुटनलिकाकाराणि यथा वृक्कप्रभवौ मूत्रस्रोतसी गवीन्यौ नाम हंसपक्षनलिकाकारे। आदिपदेन वस्तिमुखात् शिश्नाग्रं यावत् मूत्रप्रसेकाख्यमन्यत् मूत्रस्रोतः। यकृती पित्तकोषीया चेति द्वे पित्त-नलिके अपि तेषामवरोधः मार्गनिरोधः। तद्दृष्टान्तं दर्शयति—यथाश्मर्यामित्यादि। तथाह्युक्तं—"मूत्रस्रोतोनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना। यावन्न पुनरभ्येति गुडिका स्रोतसो मुखम्।"—इत्यादि। अन्यमपि दृष्टान्तमाह—पित्तकोषीयेति। यथाहि गवां पित्तकोषे रोचनाः[१] भवन्ति तद्वत् मानुषाणामपि दृश्यन्ते जीवच्छरीरे मृतशरीरे च। ताश्च रोचनाः प्रायेण त्रिकोणाकाराः षट्कोणाकारा वा सुचिक्कणाः पीतवर्णाश्च। तासामेका यदि पित्तकोषीयनलिकां रुणद्धि, तदापि शूलादिलिङ्गानि॥४०९-४१०॥

अथ उदावर्त्तजान् शूलानाह—**वातमूत्रेति**। वातस्य मलवाष्पभूतवायोः पक्वाशयचरस्य, मूत्रस्य, पुरीषस्य च। आदिपदेन वमनादेश्च वेगरोधाद्। उदावर्त्तो नाम यत्र विगुणो वायुः उदावर्त्तयति प्रतिकूलं चालयति वात-मूत्रपुरीषादीन्, तादृश्यवस्था। तत्सामान्यलक्षणं सुश्रुते यथा—"वायुः प्रकुपितो यस्य रूक्षाहारस्य देहिनः। मलं रुणद्धि कोष्ठस्थं मन्दीकृत्य तु पावकम्। शूलं संजनयंस्तीव्रं स्रोतांस्यावृत्य तस्य हि। दक्षिणं यदि वा वामं कुक्षिमादाय जायते। सर्वत्र वर्धते क्षिप्रं भ्रमत्रथ स घोषवान्। पिपासा वर्धते तीव्रा भ्रमो मूर्छा च जायते। उच्चारितो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति। विट्शूलमेतज्जानीयाद् भिषक्

१। रोचनाः—Gall-stones.

(व्रणशोथजाः शूलाः)

व्रणशोथभवाः शूलाः विद्रधौ पिड़कादिषु।
वातरक्तामवातादिष्वपि वृश्चिकविद्धवत्॥
गृध्रस्यादौ तु तत्संज्ञनाड़ीजव्रणशोथतः।
तीव्ररुक् कटिसक्थ्नोः स्यात् चिराय मुहुरेव च॥
वीजकोषेऽथवा मुष्के गुदादौ चापि सा तथा।
व्रणशोथादृतेऽप्येषु क्वचिन्मारुतजा रुजाः॥४१२-१४॥

परमदारुणम्।" इति विट्शूलम् (सु० उ० ४३अ०)। एवमन्ये च केचन शूलास्तत्र कथिताः। यथा—"संरोधात् कुपितो वायुर्वस्तिमावृत्य तिष्ठति। वस्तिवंक्षण-नाभीषु ततः शूलोऽस्य जायते। विण्मूत्रवातसंरोधी वस्तिशूलः स मारुतात्॥" इति वस्तिशूलम्। "अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते। स्थिरीभूतं तु तत् कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति। अविपाकगतं ह्यन्नं शूलं तीव्रं करोत्यति। मूर्च्छा-ध्मानं विदाहश्च हृदुत्क्लेशो विलम्बिका॥ विरेच्यते छर्दयति कम्पतेऽथ विमुह्यति। अविपाकाद् भवेच्छूल स्त्वन्नदोषसमुद्भवः॥" इति अजीर्णजशूलम्। अजीर्णजाश्च शूलाः द्विविधाः, अजीर्णोत्थ-मलवातादीनामुदावर्त्तजाः, अम्लपित्तहेतुकाश्च। तत्राद्याः उदावर्त्तजशूलेषु अन्तर्भवन्ति, अन्ये क्षतजशूलेषु॥४११॥

अथ व्रणशोथजान् शूलानाह—**व्रणशोथेति**। व्रणशोथलक्षणमुक्तपूर्वम्। तद्दृष्टान्तानाह—विद्रधाविति। विद्रधिर्नाम गभीर आभ्यन्तरव्रणः। पिडकाः, प्रमेहपिड़कादयो दुष्टव्रणाः। आदिपदेन साधारणव्रणाश्च। वातरक्तादौ तु व्रणशोथाः महारुजाः सन्धिगताः क्रोष्टुकशीर्षादयः। आदिपदेन पुराण-सन्धिवातादीनां ग्रहणम्। वृश्चिकविद्धवत्, यथा वृश्चिककण्टकेन विद्धे प्रदेशे मुहुर्मुहुस्तीव्र-रुजा भवन्ति, तद्वत्। गृध्रस्यादौ—इति। आदिपदेन विश्वाची[1]प्रभृतीनां ग्रहणम्। गृध्रसी नाम महानाड़ी सक्थ्नः पश्चाद्भागे गम्भीरावस्थिता प्रत्यक्षशारीरे वर्णिता। तस्याः व्रणशोथतो गृध्रसीरोगः सम्भवति। एवं स्त्रीणां वीजकोषे, पुंसां मुष्के, सर्वेषाञ्च गुदादौ व्रणशोथसम्भवे तथैव तीव्ररुजा सम्भवन्ति। अथ प्रसंगतो वीजकोषादिभवान् नाड़ीशूलानप्याह—व्रणशोथादिति। वातजाः शुद्धवातजाः। तादृशाश्च शूलाः क्षीणानां सुकुमाराणाञ्च नाड़ीदौर्बल्यहेतोः प्रादुर्भवन्ति॥४१२-१४॥

१। विश्वाची नाम बाहुगता गृध्रसीसमलक्षणा।

(क्षतजशूलाः)

अम्लशूलाख्यशूलौ यौ वर्णितौ तौ क्षतोद्भवौ ।
प्रवाहिकादौ शूलश्च तथान्त्रक्षतसम्भवात् ॥४१५॥

(अभिघातजशूलाः)

अभिघाताद् रुजास्तीव्राश्छेद-भेदादिसम्भवाः ।
संज्ञावहानां नाडीनां द्रागुद्वेजनहेतुकाः ॥४१६॥

(क्रियावैषम्यजशूलाः)

पेशीसङ्कोचवैषम्यात् पिण्डिकोद्वेष्टनादयः ।
तूणी च प्रतितूणी च तथा च परिकर्त्तिका ॥॥४१७॥

(नाड़ीदौर्बल्यजशूलाः)

नाडीतन्त्रस्य दौर्बल्यात् शीतोष्णादिकहेतुभिः ।
नाडीशूलाः प्रवर्त्तन्ते शाखा-शीर्षाऽक्षि-कर्णगाः ॥४१८॥

अथ क्षतजशूलानाह—**अम्लशूलेति** । द्विविधमम्लशूलमामाशयग्रहणी-क्षतजम्, प्रवाहिकादौ अन्त्रक्षतजन्यं शूलं च वर्णितचरम् ॥४१५॥

अथ अभिघातजान् शूलानाह—**अभिघातादिति**। छेद-भेदौ शस्त्राघात-जन्यौ, आदिपदेन दण्डाघातादिजन्यास्थिभग्नादीनां ग्रहणम्। ते च शूलाः द्विविधाः, सद्योभाविनः कालान्तरभाविनश्च। तत्र सद्योभाविनः संज्ञावहानां नाड़ीनां द्राग् झटिति उद्वेजनहेतुकाः, अन्ये तु कालान्तरेण व्रणशोथहेतुकाः ॥४१६॥

अथ क्रियावैषम्यजान् शूलानाह—**पेशीसङ्कोच** इति। पेश्यो नाम प्राणभृतां सकलचेष्टासाधनानि मांसमयानि, ताः चेष्टावहनाड़ीनां उत्तेजनविशेषात् क्रियावत्यो भवन्ति। तासां वायुरधिष्ठाता, यदुक्तं—"स हि प्रवर्त्तकश्चेष्टाना-मुच्चावचानाम्"—इति (च० सू० १२ अ०)। चेष्टाश्च परस्परानुकूलकार्यकारिभिः पेशीपुञ्जैः सम्पाद्यन्ते। अथासां क्रियावैषम्ये परस्परक्रियासामञ्जस्याभावे पिण्डि-कोद्वेष्टनादयो रुजाः सम्भवन्ति। पिण्डिका नाम जंघापश्चिमा मांस-पिण्डिका। तस्याः उद्वेष्टनं अवमोटनम्। आदिपदेन करपादांगुलीषु खल्वीप्रभृतीनां ग्रहणम्। अन्त्रादिषु स्वतन्त्रपेशीसङ्कोचवैषम्यकृतास्तु तूणी-प्रतितूण्यादय उदरशूला अग्रे वक्ष्यन्ते। परिकर्त्तिका नाम गुदादिषु कर्त्तनवत् पीड़ा ॥४१७॥

अथ नाड़ीदौर्बल्यजशूलानाह—**नाड़ीतन्त्रस्येति**। नाड़ीतन्त्रं मस्तिष्क-सुषुम्नादिसहितं शाखाप्रशाखा-कन्दाणुकादिरचितं नाड़ीमंडलं शारीरे वर्णितम् ॥४१८॥

अथ अर्शोनिदानम् ।

(निरुक्तिः)

गुदस्यान्तर्बहिश्चापि प्ररोहन्त्यंकुरास्तु ये ।
अर्शांसि ते निगद्यन्ते शृणन्त्यरिसमं यतः ॥
मुख्या तु संज्ञा तेष्वेव, ते चतुर्धा समासतः ।
रक्तोल्वणा अरक्ताश्च बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥४१९-२०॥
नासा-तालु-गलोत्थानि योनिमेढ्रादिजान्यपि ।
अर्शांसि सन्ति, तत्संज्ञा गौण्यः स्थानाभिधानुगाः ॥४२१॥

(निदानम्)

अव्यायामाद् दिवास्वप्नाद् वेगानां च विधारणात् ।
सुखशय्यासनाच्चापि तीक्ष्णमद्यादिसेवनात् ।

अथ कायाग्निदोषकृतेषु रोगेषु अर्शोनिदानं वक्तुमुपक्रम्य अर्शःपदार्थं निर्वक्ति गुदस्येति । अत्र गुदपदं गुदनलिकायाः शेषार्धवाचि वक्ष्यमाणहेतोः । अन्तः, गुदाभ्यन्तरे । बहिः गुदोष्ठे । अङ्कुराः अङ्कुरसदृशाः । मांसांकुरा इति तु न वक्तव्यं, मांसतन्तूनामर्शःसु अदर्शनात् । यत्र तु क्वचित् मांसांकुरा इति प्राचां प्रयोगः, तत्र मांसवद् अंकुराः—इति व्याख्यया समाधेयम् । प्ररोहन्ति उद्भिद्यन्ते । शृणन्ति हिंसन्ति अरिसमं शत्रुवदिति अर्शांसि । शृ हिंसायामिति धातोर्निपातनसिद्धमेतत्[1] । ननु नासा-ताल्वादिप्रदेशेष्वपि सम्भवन्त्यर्शांसि, तत् कथं गुदांकुरा एव अर्शांसि—इति शङ्कां निरस्यति मुख्येति । अर्शःसंज्ञा तु गुदांकुरेष्वेव रूढा—इत्यर्थः । ते समासतः संक्षेपतश्चतुर्विधाः । रक्तोल्वणाः रक्तार्शांसि[2], अरक्ताः अरक्तोल्वणाश्चेति । एवं द्विविधास्ते बाह्या आभ्यन्तराश्चेति चतुःप्रकाराः । नासा-ताल्वादिजातानां संज्ञास्तु स्थानाभिधानुगाः, स्थाननाम्नामनुगामिन्यः—यथा नासार्शः, ताल्वर्शः इत्यादिसंज्ञाः । अतस्ता गौण्यः, स्थाननिर्देशपूर्वं तत्प्रयोगात् ॥४१९-२१॥

अथ अर्शसां निदानमाह—अव्यायामादिति । अव्यायामः, चंक्रमणादिशारीरव्यायामस्य अभावः । दिवास्वप्नात्, ग्रीष्मेतरकालेषु चिराय दिवानिद्राहेतोः ।

---

१ । केचित्तु 'अर्त्तेर्व्याधौ शुट् च' इति उणादिसूत्रेण गत्यर्थं ऋ धातोरर्शःपदं निष्पादयन्ति ।
२ । रक्तार्शांसि = Piles. अन्यान्यर्शांसि तु Papilloma, Mucous Polyp, Codyloma—इत्यादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यन्ते ।

स्नेहातियोगान्मन्देऽग्नौ प्रायश्च मलसञ्चयात्।
जायन्तेऽर्शांसि दुःखानि गुदोष्ठे च गुदान्तरे ॥४२२-२३॥
गर्भिण्या गर्भवृद्धौ च यकृत्प्लीह्नोश्च वृद्धितः।
जलोदरे च जायन्ते रक्तार्शांसि क्वचित् क्वचित् ॥४२४॥

(सम्प्राप्तिः)

गुदोष्ठोऽर्धांगुलस्थूलो गुदद्वारस्य वेष्टनः।
सदा संमुद्रितः पेश्याऽन्यत्र विड्-वातसर्गतः॥
अन्तर्वलित्रययुतं शङ्खावर्त्तनिभं गुदम्।
अर्धपञ्चांगुलं प्राहुः प्राञ्चो दुर्नामवर्णने।

वेगानां वात-मूत्र-पुरीषवेगानां विधारणात्। स्नेहातियोगात् स्नेहभूयिष्ठभोज्यानामत्युपयोगात्। प्रायश्च मलसञ्चयात्, मलसञ्चयस्य प्रायोभाविन उपेक्षणादिति भावः। गुदोष्ठे इति बाह्यार्शसां स्थाननिर्देशः, गुदान्तरे इति आन्तरार्शसाम्। तदेतद् द्विविधमर्शसां स्थानमग्रे व्याख्यास्यते ॥४२२-४२३॥

अथ अन्यविधं निदानचतुष्टयमाह—गर्भिण्या इति—गर्भादीनां वृद्धिर्हि यकृदभिमुखीनां स्थूलसिराणां यथासम्भवं प्रपीड़नकरी। प्रपीड़ितासु च तासु सिरासु रक्तप्रवाहस्य ऊर्ध्वप्रसरणं व्याहन्यते, ततश्च स्फारीभवन्ति गुदवेष्टनसिराचक्रीयाः सिराः, त्रुट्यन्ति च ताः समधिकरक्तपूर्णत्वे तद्रक्तनिर्गमाय। जलोदरे तु शनैर्यकृत्सङ्कोचहेतोः तत्प्रवेशिरक्तस्रोतसो गतिर्बाध्यते प्रतिहारिण्यां महासिरायाम्, ततश्च परम्परया तत्पोषणीनां गुदवेष्टनसिराणामाभ्यन्तरीणां स्फीतिः, रुजा, त्रुटनञ्च भवन्ति काले ॥४२४॥

अथ शारीरमूलामर्शसां सम्प्राप्तिमाह—गुदोष्ठ इति। संमुद्रितः, गुदसङ्कोचन्या पेश्या गुदद्वारं परितोऽवस्थिततया स्वसङ्कोचात् सङ्कोचं प्रापितः। स च सङ्कोचः सदा नित्यं तिष्ठति अन्यत्र विड्-वातसर्गतः, तत्तत्काले तु गुदस्य विस्फारः—इत्यभिप्रायः। गुदाभ्यन्तरं वर्णयति अन्तरिति। अन्तरिति पदं विशेषणद्वयेन सह योज्यम्। वलित्रयञ्च[१] गुदान्तर्वेष्टनश्लेष्मलकलायाम् उत्सेधरूपं मांसतन्तुगर्भम् अर्धचन्द्राकारञ्च दृश्यते, अत एव शङ्खावर्त्तनिभं गुदाभ्यन्तरमाहुः। तासाञ्च बलीनामधस्तमा प्रथमा वलिरिति प्राचाम्। सा गुदोष्ठात् किञ्चिदूर्ध्वं पुरःस्थिता

१। गुदवलित्रयम्—Valves of Houston.

गुदस्य नलिकां नव्या दिशन्ति द्वादशांगुलाम्।
अधरार्धस्तु यस्तस्याः स प्राचां गुदसंज्ञकः ॥४२५-२७॥
तनुत्वक्-श्लेष्मलकलासंवृतः स गुदोष्ठकः।
बाह्यार्शसां भवेत् क्षेत्रं शुष्काणां स्राविणामपि॥
गुदस्याभ्यन्तरं यत्तु श्लेष्मस्राविकलावृतम्।
आभ्यन्तराः प्ररोहन्ति तत्र प्रायो गुदांकुराः ॥४२८-२६॥

गुदसङ्कोचन्याः पेश्याः अंशरूपा। तस्याः गुदसंवरणीति प्राचीना संज्ञा। तदुपरिष्टात् सार्धैकाङ्गुलेन (न्यूनाधिकान्तरालेन वा) वामतो द्वितीया, तदूर्ध्वञ्च तावतैव दक्षिणतस्तृतीया, ते च क्रमाद् विसर्जनी प्रवाहणी चेति नामधरे प्राचाम्। तत्कार्ययोः सन्दिग्धत्वात्तु नेह तयोर्ग्रहणम्। न च वलित्रयमेव अर्शसां क्षेत्रं, तदन्तरालेष्वपि तेषां दर्शनात्। दुर्नाम्नाम् अर्शसां वर्णने। यत्तु अर्धपञ्चांगुलमिति गुदमानमभिहितं सुश्रुतेन वाग्भटेन च, तत् टीकाकृद्भिर्बलेन सार्धचतुरंगुलमिति व्याख्यातम्। वयन्तु सार्धपञ्चांगुल[1]मिति तदर्थं व्याख्याय तन्मानमेव साधु मन्यामहे, प्रत्यक्षसंवादात्। ननु प्रत्यक्षशारीरे द्वादशांगुला गुदनलिका वर्णिता, तत् कथं सार्धपञ्चांगुलं गुदं साधु मन्यसे इति चेद्, उच्यते—गुदस्येति। गुदनलिका द्वादशांगुलैव, परं तस्याः अधरार्ध[2] एव अर्शसां क्षेत्रमिति तत्र प्राचां गुदसंज्ञा। प्रत्यक्षशारीरे तु द्वादशांगुलायाः गुदनलिकायाः भागत्रयमुक्तम्—उत्तरगुदम्, मध्यगुदम्, अधरगुदं चेति। तत्र शेषद्वयं मिलितं प्राचां गुदसंज्ञमिति निष्कर्षः। विस्तरस्तु तत्रैव गुदनलिका-गुदवेष्टनसिराचक्र-गुदपेशीनां वर्णनेषु द्रष्टव्यः। अन्यत् स्पष्टम् ॥४२५-४२७॥

अथ गुदोष्ठं वर्णयति तनुत्वगिति। बहिस्तनुत्वचा अन्तश्च श्लेष्मलकलया संवृत इत्यर्थः। शुष्काणां स्रावरहितानाम्; स्राविणां पिच्छास्राववतां रक्तस्राववताञ्च। बाह्यार्शसाम्, अ-यन्त्रसहायेन चक्षुषा दृश्यानामर्शसां, क्षेत्रं प्ररोहभूमिः। तत्र च अनुदैर्घ्यं दृश्यास्त्वाचबलिराजयः सूक्ष्माः। पाशाकाराः सूक्ष्मसिराप्रतानाश्च तत्-परितः स्थिताः बाह्यार्शसां भूमयः। अत्र गुदपदं नव्यानां मध्याधरगुदनलिका-भागार्थं प्राचीनार्थवाचकमेव। उत्तरगुदन्तु नार्शसां क्षेत्रं प्रायेण ॥४२८-४२६॥

१। अङ्गुलमानन्तु यवत्रयम्=3/4th Inch. तेन सार्धपञ्चाङ्गुलम्=4-1/8 inches

२। अर्धपदस्य पुंसि प्रयोगात् असमानार्धः सूचितो भवति। "पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके"—इत्यमरः।

कृत्स्नं गुदं च संवेष्ट्य सिराचक्रं द्विधा स्थितम्।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति पाशाकृतिसिरावृतम्।
याकृताद्रक्तसंरम्भात् संरम्भस्तत्र जायते।
सिराणां स्फारता तस्मात् त्रुटनं च यदृच्छया।
ततो रक्तं स्रवेत् काले गाढ़वर्चःप्रपीड़नात्॥
पित्त-रक्तोल्वणास्ते च प्रदिश्यन्ते गुदांकुराः॥४३०-३२॥
यकृतः पित्तनिःस्रावः प्रचुरो योऽन्वहं भवेत्।
तदल्पत्वे विड्विबन्धः पित्तसंरम्भ एव च।
एवं याकृतविक्षोभात् सिरागर्भा गुदांकुराः।
सम्भवन्ति प्रशूयन्ते प्रक्षरन्ति च शोणितम्॥४३३-३४॥

अथ गुदसम्बन्धेन तद्वेष्टनं सिराचक्रं वर्णयति कृत्स्नमिति। अत्रापि गुदवर्णनं प्राचीनार्थपरम्। पाशाकृतिसिरावृतम्—पाशाः नाम रज्जुनिर्मित-हाराकाराः पशुबन्धन्यः, तदाकृतिभिः सिराभिरावृतम्। ताश्च सिराः परस्परा-श्लेषिण्यः गुदं परिवृत्य स्थिताः। तत्र बाह्यं सिराचक्रं मांसमयगुदप्राचीरिकायाः बहिःस्थम्, आभ्यन्तरन्तु गुदाभ्यन्तरीय-श्लेष्मलकलां परिवृत्य तिष्ठति पूर्वेण संबन्धं विधाय। तद्विशेषवर्णनन्तु प्रत्यक्षशारीरे सिराखण्डे द्रष्टव्यम्। याकृतादिति। यकृति भवः याकृतः। रक्तसंरम्भः, रक्तस्य विक्षोभः, तत्संवहनस्य रुद्धप्रायत्वम्। गुदवेष्टनमाभ्यन्तरसिराचक्रं हि स्वरक्तं प्रतीहारिण्यां महासिरायामर्पयति। तच्च रक्तं स्वभावतो यकृत्प्रवेशि, तस्य चेद् ऊर्ध्वप्रसरणं व्याहन्यते, तदा स्फारीभवन्ति गुदवेष्टन्यः सिराः, त्रुट्यन्ति च कालेन। स्फारता विस्फारितावस्था। यदृच्छया, अनियमेन यदा-कदाचित्। अन्यत् स्पष्टम्॥४३०-४३२॥

अथाऽपरां रक्तार्शसां सम्प्राप्तिमाह—यकृत इति। यकृत इत्यपादाने पञ्चमी। पित्तनिःस्रावः, शोणितमलभूतस्य विस्र-नीलपीत[1]-तरलपित्तस्य निःस्रवणं पित्तकोष-नलिकाद्वारेण याकृतपित्तनलिकाद्वारेण च। स च निःस्रावः अन्वहं प्रत्यहं प्रचुरः भूरिपरिमाणः, ग्रहण्यामिति शेषः। परिमाणं चास्य प्रत्यहं षट्पलादारभ्य

१। नीलं पीतं वा, तयोर्मिश्रणाद् हरिद्वर्णं वा, अवस्थाविशेषाद्।

क्रमादन्येऽनिलश्लेष्मभवाः शुष्काः सपिच्छकाः।
गुदोष्ठस्य विदारेऽपि दुर्नाम्नां सम्भवः क्वचित् ॥४३५॥

(अर्शोभेदाः)

भिद्यन्तेऽर्शांसि बहुधा भेदहेतुविभागतः।
कालतो दोषतः स्थानभेदान्निर्माणभेदतः ॥४३६॥
कालतः सहजातानि जन्मोत्तरभवानि च।
अर्शांसि, तेषु दृश्यन्ते कुलजान्यपि कानिचित् ॥
दोषतस्तु पृथग् द्वन्द्व-संघातैः शोणितादपि।
स्थानभेदाद् द्विधा तानि बाह्यान्याभ्यन्तराणि च ॥४३८॥

दशपल[1]पर्यन्तम्—इति शारीरे[2] वर्णितम्। तद्धि पित्तं न स्रवति चेत् पुष्कलं प्रत्यहं च, तदा यकृद्रक्तं दुष्यते, मलभूतपित्तस्यानिर्गमात् यकृच्छूनता रक्तदूषणञ्च भवतः, क्वचित् कामलाऽपि। सोऽयं याकृतपित्तसंरम्भः याकृतपित्तस्य विक्षोभो वा नाम। तेनापि प्रतीहारिसिराप्रवेशिनीनां सिराणां समधिकरक्तपूर्णता सम्भवश्च पूर्ववत् पित्तरक्तोल्वणानामर्शसाम् ॥४३३-४३४॥

क्रमादिति। अन्ये गुदांकुराः क्रमाद् यथाक्रममनिलभवाः श्लेष्मभवाश्च शुष्काः स्रावहीनाः सपिच्छकाः पिच्छास्राविणश्च। अन्यविधम् अर्शसां सम्भवमाह—गुदोष्ठस्येति। कठिनवर्चस्त्वात् गुदोष्ठस्य दृढ़सङ्कोचहेतोश्च मलोत्सर्गकाले तदेकांशस्य विदीर्णता, ततो विदारान्तर्गत-सिरामुखानां तदंशे स्फीतता क्षतसम्भवश्च। तथा च सम्भवन्ति प्रायेण पित्तरक्तोल्वणाः सिरागर्भाः गुदांकुराः। जाते तु क्षतरोपणे प्रायस्ते प्रलीयन्ते, तिष्ठन्ति वा कदाचित् शुष्कप्रायाः ॥४३५॥

अथ अर्शोभेदानाह—भिद्यन्ते इति। भेदहेतुविभागतः, भेदकल्पना हि भेदहेतूनपेक्षन्ते तद्यथा—कालतः, दोषतः, स्थानभेदात, निर्माणभेदाच्चेति। तत्र कालतः यथा—सहजातानि, रोगिणो जन्मना सह प्रकटानि। जन्मोत्तरभवानि, बाल्ये यौवने प्रौढ़ौ वार्धके वा जातानि। तेषु चान्तर्भवन्ति कुलजान्यर्शांसि। यदि हि पुरुषत्रयं व्याप्य तानि दृश्यन्ते, तदैव कुलजानीति वक्तव्यं, नान्यथेत्यत्र गुरूपदेशः। दोषजविभागानाह—दोषतस्तु इति। पृथक्, एकैकदोषतः। द्वन्द्वैः

१। पलं चेह अष्टतोलकमितम्। २। प्रत्यक्षशारीरस्य आशयखण्डे पित्तकोषवर्णने।

अथ निर्माणभेदेन त्रिधा भेदोऽर्शसां यथा।
कानिचित् श्लेष्मगर्भाणि सिरागर्भाणि कानिचित्।
त्वक्कलोत्थानि चान्यानि विशुष्कसिरया सह॥
आद्यानि पिच्छास्रावीणि स्रवन्त्यन्यानि शोणितम्।
इतराणि स्रावहीनान्येषा भेदविवेचना।
तेषु कष्टतमा ज्ञेयाः पित्त-रक्तोल्वणांकुराः॥४३६-४१॥

(पूर्वरूपाणि)

वह्निसादस्तथाटोपोऽतीसारः क्वापि विड्ग्रहः।
मारुतः प्रचुरः कृच्छ्रान्निर्गच्छति च घोषवान्।
मूत्रं प्रभूतमल्पा विट् प्रायशो धूमकाम्लकौ।
कण्डूर्गुदोष्ठे दाहो वा प्रायश्चिमिचिमायनम्।
स्तोकेन वा सिरास्फीतिर्दुर्नाम्नां पूर्वलक्षणम्॥४४२-४३॥

द्वाभ्यां द्वाभ्यां दोषाभ्याम्। सङ्घातेन सन्निपातेन दोषत्रयमेलकेन। शोणितादपि, शोणितस्य सुश्रुतमतेन दोषत्वकल्पनया तद्वृद्धिरपि रक्तार्शसां हेतुः। स्थान-भेदादिति। गुदस्य बहिरभ्यन्तरे वेति। अथ निर्माणभेदेन त्रिविधं भेदमाह—अथेति। श्लेष्मगर्भाणि पिच्छागर्भाणि। सिरागर्भाणि अभ्यन्तरे द्विगुणीकृत-सिरा-प्रतानधराणि। त्वक्कलोत्थानि, मुख्यतः त्वङ्मयानि कलामयानि वा। विशुष्क-सिरया सह, शुष्कार्शांसि प्रायेण विशुष्कसिरागर्भाणि॥४३६-४४१॥

अथ अर्शसां पूर्वरूपाण्याह—वह्निसाद इति। वह्निसादः अग्निमान्द्यम्। आटोपः, अन्त्रेषु गुड़गुड़ाशब्दः। क्वापि अतीसारः। विड्ग्रहः, मलविबन्धः, स च प्रायशः। मारुतः, इह मलवाष्परूपः। घोषवान् सशब्दः। मूत्रं प्रभूतं प्रचुरम्। धूमकः, धूमायितवद् उद्गारः। अम्लकः अम्लोद्गारः। कण्डूर्गुदोष्ठे इति श्लेष्मार्शसां पूर्वरूपम्। दाहस्तु पित्तार्शसां, क्वचिद् रक्तार्शसाञ्च। चिमिचिमायनमिति वात-पित्तोल्वणानामर्शसां लिङ्गम्। सिरास्फीतिस्तु पित्तरक्तार्शसाम्। दुर्नाम्नामर्शसाम्। एतानि च लिङ्गानि युगपद् वर्त्तमानानि त्रिदोषजत्वमेवार्शसां सूचयन्ति, न्यूनानि तु एक-द्विदोषजार्शसाम्। चेत्तु सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वमाहुः॥४४२-४३॥

(रूपम्)

पूर्वोक्तान्येव लिङ्गानि बर्धन्ते चेद् गुदांकुरैः।
सदोषलिंगैः प्रकटैः पूर्णलिङ्गस्तदार्शसः ॥४४४॥

(वातार्शोलक्षणम्)

अंकुरा ये गुदोष्ठस्थाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः।
सूत्रवर्त्तिनिभाः केचित् केचिद् रुद्राक्षसन्निभाः।
श्यावारुणाः खराः प्रायो नीरुजास्तेऽनिलोल्वणाः।
कटी-पृष्ठ-त्रिकरुजा-करास्ते च विशेषतः ॥४४५-४६॥

(पित्तार्शोलक्षणम्)

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्त-श्यावासितप्रभाः।
दाह-पाक-रुजावन्तः प्रायशो ज्वरदा अपि ॥

अथ अर्शसां रूपं संक्षेपेण वर्णयति—पूर्वोक्तानीति। पूर्वरूपोक्तानि लक्षणानि यदा गुदांकुरैः सह बर्धन्ते, तदा अर्शसः अर्शोरोगी[1] पूर्णलिङ्गः पूर्णलक्षणो ज्ञेयः। ननु दुर्लक्ष्योऽयं पूर्वरूप-रूपयोर्भेदः—इति शङ्कां निरस्यति विशेषणद्वयेन। सदोषलिंगैः, वातादिदोषलक्षणसहितैः। प्रकटैः गुदांकुरैः। ननु आभ्यन्तरेष्वर्शःसु कथं प्रकटता गुदांकुराणाम् इति चेत्, उच्यते। तत्रापि अंगुल्यादिप्रवेशनेन गुदाभ्यन्तरावेक्षणेन च भवत्येव प्रकटता, उन्नेयाश्च ते रुजा-रक्तस्रावादिभिः ॥४४४॥

अथैवं सामान्यतो रूपमभिधाय दोषानुसारेण लक्षणानि विशदीकरोति अङ्कुरा इति। लक्षणानि चेह ग्रन्थकर्त्रा प्रत्यक्षीकृतान्येव लिखितानि। विस्तरस्तु परिहृतः शिष्यबुद्धिवैशद्याय। सूत्रवर्त्तिनिभाः कार्पाससूत्रमयवर्त्तिखण्डसदृशाः। रुद्राक्षसन्निभाः अंकुरपरिव्याप्तवर्त्तुलाकाराः। श्यावाः कृष्णाभपीतवर्णाः। खराः अपिच्छिलाः। प्रायो नीरुजाः कदाचित् सरुजा अपि—इति वातिकार्शसां रूपाणि। अन्यच्च लिङ्गमाह—कटीपृष्ठ इति। कट्यां पृष्ठे त्रिकास्थिन च ते रुजां कुर्वन्ति विशेषेण—इत्यर्थः ॥४४५-४४६॥

अथ पित्तार्शसां लक्षणमभिधत्ते—पित्तोत्तरा इति। पित्तोत्तराः पित्तप्रधानाः। नीलमुखाः सिरागर्भत्वात्। रक्तश्यावासितप्रभाः, कदाचिद्रक्तवर्णाः कदाचित् श्याववर्णाः कदाचित् कृष्णवर्णाः। दाहपाकरुजावन्तः—दाहः, अग्निदग्धे

१। अर्शः अस्ति अस्येति अर्शसः। "अर्श आदिभ्योऽच्"।

व्रणशोथयुतास्ते स्युः सिरागर्भा गुदांकुराः।
यावत् स्रवन्ति नो रक्तं तावन्न सुखमश्नुते ॥४४७-४८॥

(श्लेष्मार्शोलक्षणम्)

श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः।
उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः वृन्तवन्तोऽपि केचन।
बाह्याः आभ्यन्तराश्चैते बालानां स्युर्विशेषतः।
कण्डूमन्तः पिच्छिलाश्च बहिःस्थाः स्पर्शनप्रियाः ॥४४९-५०॥

(संसर्गजार्शसां लक्षणम्)

द्वयोर्द्वयोर्लक्षणैस्तु द्वन्द्वजाः स्युर्गुदांकुराः।
सर्वलिङ्गसमेताश्चेत् तान् विद्यात् सान्निपातिकान् ॥४५१॥

यथा ज्वाला भवति तद्वत्। पाकः, इह पाकोन्मुखावस्था, क्वचित् पूयसञ्चारोऽपि। एते च दाह-पाक-रुजा-ज्वराः अर्शसां व्रणशोथावस्थां सूचयन्तीत्याह—व्रणशोथयुता इति। तादृशाश्च गुदांकुराः प्रायेण सिरागर्भाः। अत एव ते यावद् रक्तं न स्रवन्ति तावन्न सुखं भजते, रोगीति शेषः। एवञ्च कदाचिद् रक्तविस्रावणमेव तेषां मुख्यः प्रशमोपायः—इति शल्यतान्त्रिकाः ॥४४७-४८॥

अथ श्लैष्मिकार्शसां रूपमाह—श्लेष्मोल्वणा इति। महामूलाः विस्तृतमूलाः। घनाः अकोमलाः। उच्छूनाः उन्नतशोथवन्तः, उपचिताः पुष्टाश्च। स्निग्धाः चिक्कणाः। वृन्तवन्तः द्राक्षाफलवद् वृन्तैर्लम्बमानाः। एते बाह्याः आभ्यन्तराश्चेति द्विविधाः पूर्वोक्तलक्षणाः बालानां च विशेषेण भवन्ति। बहिःस्थाः बाह्याः ॥४४९-४५०॥

अथ द्वन्द्वजानाम् अर्शसां त्रिदोषजानाञ्च लिङ्गानि वर्णयति—द्वयोर्द्वयोरिति। स्पष्टार्थम्। ननु चरकमतेन सर्वाण्यपि अर्शांसि त्रिदोषजानि, यदुक्तं—'अर्शांसि खलु जायन्ते नाऽसन्निपतितैः क्वचित्। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥' (च० चि० १४अ०)—इति चेत्, सत्यम्। सामान्यपूर्वरूप-रूपाणां दोषजत्वपरीक्षया स्पष्टमेवार्शसां त्रिदोषजत्वम्। उल्वणत्वादिनिर्देशश्च तदेव प्रतिपादयति। परं गुदांकुराणां स्वरूपभेदात् एक-द्वि-त्रिदोषोल्वणत्वम् उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात्। सामान्यकायिकलक्षणानां दर्शनाच्च—इति ॥४५१॥

(सहजकुलजानां लिङ्गानि)

त्रिदोषलक्षणा ज्ञेयाः सहजाः कुलजास्तथा।
सहजानां तु सदृशाः कुलजाः कालभाविनः ॥४५२॥

(रक्तार्शसां लिङ्गानि)

रक्तोल्वणास्तु विज्ञेयाः पित्ताकृतिसमन्विताः।
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जा-विद्रुमसन्निभाः।
ते श्याममुष्णं चात्यर्थं गाढ़विट्परिपीड़िताः।
स्रवन्ति सहसा रक्तम्, तस्य चातिप्रवृत्तितः।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः।
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः क्षीयते क्रमात् ॥४५३-५५॥

(अर्शसामुपद्रवाः)

उपद्रवास्तु दुर्नाम्नां गुदभ्रंशो भगन्दरः।
वात-मूत्र-पुरीषाणामुदावर्त्तश्च कुत्रचित्।
क्वचित् बद्धगुदश्चापि यकृद्वृद्धिश्च कामला।
रक्तक्षयात् पाण्डुता च शोथश्च करपादयोः ॥४५६-५७॥

त्रिदोषलक्षणा इति। सहजाः, शरीरेण सह जाताः। कुलजाः, मातृकुलात पितृकुलाद् वा लब्धाः। तत्र सहज-कुलजयोः लक्षणानि प्रायेण सदृशानि, परन्तु कुलजाः कालभाविनः, कालं प्राप्य प्रादुर्भवन्तीति विशेषः। सहजार्शोलक्षणविस्तरस्तु सौश्रुतनिदाने (२ अ०) वर्णितो नेह विस्तरभिया लिखितः, तद् विरलत्वात् ॥४५२॥

रक्तार्शसां लिङ्गान्याह—रक्तोल्वणा इति। पित्ताकृतिभिः पूर्वोक्तपित्तार्शोलक्षणैः समन्विताः। रक्तस्य दोषत्वं चेह सुश्रुतमतेन। वटप्ररोहाः, वटांकुराः। श्यामम्, ईषत्कृष्णाभम्। सहसा—अतर्कितम्, सिरात्रुटनात्। अत्यर्थं—सूक्ष्मधारया, बहुबिन्दुपातैर्वा। तस्य च रक्तस्य अतिप्रवृत्तितः, अतिस्रवणाद् रोगी भेकाभः पीताभ-पाण्डुरवर्णः सन् शोणितक्षयसम्भवैः दुःखैः, हृद्दौर्बल्य-श्वास-कासादिभिः पीड्यते। अत एवासौ बल-वर्णोत्साहैः हीनो हतौजाः हतप्रभश्च भूत्वा क्रमात् क्षीयते, यतो रक्तक्षयात् सर्वधातुक्षयः ॥४५३-४५५॥

अर्शसामुपद्रवानाह—उपद्रवा इति। दुर्नाम्नाम्—अर्शसाम्। कामला, यकृद्दोषात् पीतत्वङ्नेत्रमूत्रत्वम् ॥४५६-४५७॥

(गुदभ्रंशः)

मलं सुकठिनं त्यक्तुमर्शसश्चेत् प्रवाहते।
अत्यर्थं बहुशस्तस्य भृशं पिच्छा प्रवर्त्तते॥
क्रमाच्च बन्धशैथिल्यात् स्वस्थानाद् भ्रश्यते गुदम्।
प्रवेश्यते च कष्टेन, गुदभ्रंशः स उच्यते॥४५८-५९॥

(भगन्दरः)

गुदस्य द्व्यंगुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽर्त्तिकृत्।
भिन्ना नाडीव्रणं कुर्याद् द्विमुखः स भगन्दरः॥
एष कृच्छ्रतमो रोगः शस्त्रसाध्यो नवोत्थितः।
क्षारसूत्रादिभिः साध्यः पुराणस्तु कदाचन॥४६०-६१॥

अथ गुदभ्रंशादीन् संक्षेपेण वर्णयति—मलमिति। प्रवाहते, कुन्थनं करोति। अत्यर्थम्, अतिमात्रम्। बहुशः, वारं वारं। पिच्छा, सान्द्र-पिच्छिलवस्तु। तत्-प्रवृत्तिश्च स्वभावतः कठिनमलस्य पिच्छिलीकरणाय। बन्धशैथिल्याद्, गुद-बन्धनीनां शिथिलीभावात्। प्रवेश्यते, अंगुल्यादिभिरन्तः प्रक्षिप्यते। सोऽयं गुदभ्रंशः प्रवाहिकाधिकारेऽपि वर्णितपूर्वः॥४५८-४५९॥

अथ अर्शसामुपद्रवं भगन्दरमाह संक्षेपेण—गुदस्येति। द्व्यंगुले, द्व्यंगुलायते। क्षेत्रे स्थाने, एकैकतो गुदकौकुन्दरे खाते—इत्यर्थः। तत् खलु "गुदद्वारस्य एकैकतः (दक्षिणे वामे च) त्रिकोणविलप्रायं परितः कलावृतं मेदःपूर्णञ्च। तस्य मध्यरेखाभिमुखी सीमा—गुदसंकोचनी बाह्या नाम पेशी, गुदवेष्टनी कला च। पार्श्वसीमा—कुकुन्दरपिण्डं वस्तिगुहान्तरीया कला च। पश्चिमसीमा—त्रिक-कुकुन्दरिका गुर्वी नाम स्नायुरज्जुः, नितम्बपिण्डिका गुर्वी नाम पेशी च"—इत्युक्तं प्रत्यक्षशारीरे। इदमेव भगन्दरायतनं निर्भिद्य भगन्दराख्यो नाड़ीव्रणो भवति। पिड़कायाः बहिः—त्वचि, अन्तश्च गुदाभ्यन्तरे स्फुटनात्। अत एवाह द्विमुखः स—इति। अत्र हि यदि द्वैमुख्यं नास्ति तर्हि नायं भगन्दरः—इति शल्य-तान्त्रिकाः। वस्तुतस्तु कदाचिदेकमुखो बहुमुखो वाऽसौ दृश्यते। भगन्दरस्य गुदा-भ्यन्तरीणं मुखं तु निपुणैरेषणीयन्त्रेण मृग्यम्। विवरणविस्तरस्तु सुश्रुतादौ नव्यशल्यतन्त्रेषु च द्रष्टव्यः। क्षारसूत्रादिसाध्यता पुनरसाध्यप्रायभगन्दराणामपि प्राचीनमार्गानुसारिशल्यवैद्यानां चिकित्सया बहुशो दृष्टा॥४६०-६१॥

(उदावर्त्तः)

अर्शसां तीव्ररुजया मल-वातनिरोधतः।
अपानः कुपितो वायुः समानं क्षोभयेद् यदा।
तदा विन्मूत्रवातानां सङ्ग आध्मानमेव च।
हृल्लासाटोपशूलाश्च कटीपृष्ठरुजा भृशम्।
शकृद् गाढं सपिच्छञ्च कृच्छ्रात् किञ्चित् प्रवर्त्तते।
शनैर्मूत्रं तथा वायुः कष्टात् किञ्चिद् विनिःसरेत्।
गुदे वस्तौ वंक्षणे च रुग्दाह-परिकर्त्तिकाः।
अर्शःकृत उदावर्त्ते लिङ्गान्येतानि निर्दिशेत् ॥४६२-६५॥

(बद्धगुदम्)

यदार्शसां तु बाहुल्याद् गुदद्वारं निरुध्यते।
त्वङ्मांसदृढसङ्कोचाद् विदुर्बद्धगुदं तदा ॥४६६॥

(साध्यासाध्यलक्षणानि)

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्-पार्श्वशूलं च यस्याऽसाध्योऽर्शसो हि सः॥
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥४६७-६८॥

अथ अर्शोरोगेषु कदाचिद् दृश्यम् उदावर्त्ताख्यमुपद्रवमाह—अर्शसामिति। ननु बहुविधा उदावर्त्ताः, वम्यादीनामपि वेगरोधात्ते भवन्ति—इति चेत्, सत्यम्। अर्शोऽधिकारे निष्प्रयोजनत्वात्ते नात्र वर्णिताः। इह तु अर्शसां तीव्ररुजया गुदस्य दृढसङ्कोचात् मलवातनिरोधज उदावर्त्त एवोच्यते। अन्यत् स्पष्टम् ॥४६२-४६५॥

अथापरमर्शसामुपद्रवमाह—यदार्शसामिति। बाहुल्यात्, संख्याधिक्यात्। बद्धगुदमिति संज्ञा। बद्धगुदोदरन्तु अन्त्रान्तरीयमार्गनिरोधरूपं पृथगेव ॥४६६॥

अथ अर्शसां साध्यासाध्यविवेकमाह—हस्ते पादे इति। अर्शसः अर्शोरोगी। संमोहः संमूढ़ता, नष्टसंज्ञप्रायता ॥४६७-४६८॥

सहजानि त्रिदोषोत्थान्यसाध्यानि हि भेषजैः।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥
बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्वणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न-चिरोत्पतितानि च ॥
भेषज-क्षार-शस्त्राग्निसाध्याः प्रायो गुदांकुराः।
दारुणाः पाण्डुशोथाद्या यदि न स्युरुपद्रवाः ॥४६७-७२॥

(अथ गौणार्शांसि)

नासौष्ठ-योनि-मेढ्रादिस्थानेष्वर्शांसि यानि तु।
छत्राकांकुरवत्तानि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥
आभ्यन्तराणि तेषान्तु पिच्छागर्भाणि कानिचित्।
वृन्तवन्ति च दृश्यन्ते शस्त्रसाध्यानि तान्यपि ॥४७३-७४॥
यत्र तत्र त्वगुद्भूता अंकुराश्चर्मकीलकाः।
श्यामा वा त्वक्सवर्णा वा तेऽप्यर्शांसीति सुश्रुतः ॥४७५॥

सहजानीति। भेषजैरसाध्यानि, क्षाराग्निशस्त्रैस्तु क्वचित् साध्यानीति भावः। अतोऽन्यथा—कायाग्नेरतिदौर्बल्ये सति प्रत्याख्येयानि सर्वथा असाध्यानि। द्वितीयायां वलौ — इत्युक्तेर्गम्भीरावस्थितान्याभ्यन्तरार्शांसि लक्ष्यन्ते। परिसंवत्सराणि, वर्षातीतानि। नचिरोत्पतितानि, अचिरकालोद्भूतानि। दारुणाः इत्युक्तेः सत्स्वपि सामान्यतः पाण्डुता-शोथादिषु साध्यानि ॥४६७-४७२॥

अथ गौणार्शांसि पूर्वोक्तान्यपि विशदतरं वर्णयति—नासौष्ठेति। छत्राकवद् बह्वङ्कुरवन्ति, अंकुरवद् वा। एवंविधानि च प्रायेण बाह्यानि। यानि पुनराभ्यन्तराणि नासादीनामभ्यन्तरेषु जातानि तानि प्रायशो वृन्तवन्ति सवृन्तानि पिच्छागर्भाणि च द्राक्षाफलवद्—इत्यर्थः। तान्यपि शस्त्रसाध्यानि। चर्मकीलानाह यत्रेति। त्वच उद्भूताः लौहकीलकवदाकृतयश्चर्मकीलाः। तेऽपि अर्शोभेदाः—इति सुश्रुतमतम्। मतान्तरेण तु क्षुद्ररोगोऽयम् ॥४७३-४७४॥

सिद्धान्तनिदानम् ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथ रक्तपित्तनिदानम् ।

(निरुक्तिः) विनाऽभिघातात् स्फुटकारणाद् वा
रक्तं स्रवेद् यत् प्रचुरं कुतश्चित् ।
तद् रक्तपित्तं भिषजो वदन्ति
विज्ञैस्तु वाच्यं निपुणं परीक्ष्य ॥४७६॥
रक्तसंक्षोभणं पित्तं भूरि चेत् स्रावयेदसृक् ।
तर्हि तद्रक्तपित्ताख्यं रोगं प्राज्ञः प्रचक्षते ॥४७७॥

(निदानम्)

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च ।
घर्मोऽग्नितापश्चाभ्यासात् निदानान्यम्लपित्तवत् ॥
अतिक्रोधादतिशुचस्तीक्ष्णमद्यादिसेवनात् ।
सुतीव्रज्वरतापाच्च रक्तपित्तमुदीर्यते ॥४७८-७९॥

अथ रक्तपित्तस्य निरुक्तिं विवक्षुरुपक्रमते—विनाभिघातादिति। कुतश्चित् द्वारात्। तद् रक्तपित्तमिति सामान्यतो भिषजां निर्देशः, विशेषज्ञैस्तु निपुणं परीक्ष्य कारण-स्थानादिकं निरूप्य वाच्यं निर्देश्यं—रक्तपित्तमेव न वेति। निरुक्तिमाह—रक्तसंक्षोभणमिति। रक्तस्य संक्षोभणं विशेषेण प्रकोपनं पित्तं—रक्तपित्तम्। मध्यपदलोपी कर्मधारयः। पित्तञ्चेह प्रसादरूपं—सूक्ष्मं देहोष्मादिकरं, स्थूलञ्च आमाशयनिःस्रुताम्लरसादिरूपं पूर्वोक्तम्, न तु शोणितमलरूपं याकृतं पित्तम्। यदि भूरि रक्तं स्रावयेत् तर्हि रक्तपित्तम्। एतेनाऽसति रक्तस्रावे न रक्तपित्तसंज्ञेति सूच्यते। चक्रपाणिस्तु—रक्तयुक्तं पित्तमिति संज्ञां निर्वक्ति। तन्न मनोरमम्। द्रवपित्तस्य रक्ते प्रवेशासम्भवात् ॥४७६-४७७॥

अथ रक्तपित्तस्य नानाविधं निदानमाह—तस्योष्णमिति। तीक्ष्णपदम् उष्णपदेनाम्लपदेन च योज्यं, कट्वादिपदेन च वचनविपरिणामेन। धर्मः रौद्रं,

आन्त्रिकादिज्वरविषाद् विषात् स्थावरजङ्गमात्।
वह्निदाहाद् गभीराच्च रक्तपित्तस्य सम्भवः॥
जलोदरे यकृच्छोषात् प्लीहवृद्धेश्च कुत्रचित्।
आमाशयाद्भवेत् क्वापि भूरिशोणितनिःस्रवः॥४८०-८१॥

(सम्प्राप्तिः)

तैस्तैर्निदानैरुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रकोपयेत्।
तद् भूरिभोजिनां प्रायः स्वमात्रामतिवर्त्तते।
सिराणां धमनीनां वा जालकानामथापि वा।
क्षताक्षतेषु स्थानेषु त्रुटनात् तत् स्रवेदसृक्॥४८२-८३॥

ग्रीष्मर्त्तुश्च। अग्नितापः यथा स्त्रीणां रन्धनकार्यपराणाम्। तेषामभ्यासात् नित्यसेवनात्। अथान्यविधमपि निदानविशेषानाह—अतिक्रोधादिति। अतिशुचः, अतिशोकात्—यथा शोकजे रक्तातिसारे॥४७८-४७९॥

अथ नानाविधविषाणामपि रक्तपित्तनिदानतामाह—आन्त्रिकादीति। आदिपदेन रक्तगर्भमसूरिकादीनां ग्रहणम्। तत्र तत्र हि ज्वरोत्पादकविषमेव पित्तं रक्तञ्च दूषयद्रक्तस्रावं जनयति। स्थावरजङ्गमाद् विषाच्च। स्थावरविषं कालकूटादिमूलविषम्, शङ्खियादिपार्थिवविषञ्च। जङ्गमविषं मण्डलिसर्पविषादि। गभीराद् वह्निदाहात्—मांसादिगम्भीरधात्ववगाहिदाहात्। तत्र हि ऊर्ध्वमधस्ताद् उभयतो वा रक्तप्रवृत्तिरिति बहुशो दृष्टमेतत्। जलोदर इति। यकृच्छोषात्—रोगमहिम्ना वार्द्धके च यकृतः क्रमशः शुष्कीभावात्। कुत्रचिदिति निर्देशात् न सर्वत्र। ननु तत्र आमाशयादेव शोणितनिःस्रवः कथमुच्यते इति चेत्, शृणु। आमाशयादाकृष्टो हि रसस्तत्सिरारक्तमिश्रः प्रतिहारिमहासिरापथेन यकृत् प्रविशतीति नियमः। प्लैहिकसिरारक्तञ्च तथैव। उभयविधस्य च सिरारक्तस्य यकृत्प्रवेशगतिश्चेद् व्याहन्यते यकृतसङ्कोचात, तदाऽमाशयिकसिरादीनां प्रपूर्णता, शोणितनिःस्रवश्च तत्त्रुटनादामाशयान्तः, ग्रहण्यां वा कदाचित्॥४८०-४८१॥

अथ रक्तपित्तसम्प्राप्तिमाह—तैस्तैरिति। तैस्तैः पूर्वोक्तैर्निदानैः मूलकारणैः उत्क्लिष्टं संक्षोभितं पित्तं—प्रसादरूपं सूक्ष्मं स्थूलञ्च, रक्तं प्रकोपयेत् प्रदूषयेत् प्रज्ज्वलयेदिव। तथा कुपितञ्च तद् रक्तं भूरिभोजिनां पशुवदतिमात्रभोजनशीलानां स्वमात्रां स्वाभाविकपरिमाणमतिवर्त्तते, रसवृद्धिहेतोः। प्रमाणातिरिक्तञ्च तद्

ऊर्ध्वं वाऽधो द्विधा वाऽपि प्रभवस्थानसन्निधौ।
गतिस्तस्य भवेत् प्रायः प्रतिलोमगतिः क्वचित्।
ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैः मेढ्रयोनिगुदैरधः।
त्वङ्मध्ये तद्बहिर्वापि रक्तस्रावः प्रवर्त्तते ॥४८४-८५॥
विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम्।
ततः प्रवर्त्तते रक्तमिति सुश्रुतसम्मतिः ॥४८६॥

बहिर्गन्तुं मार्गमन्विष्यतीत्यभिसन्धिः। ततश्च तद् असृग् रक्तं स्रवेत् निःसरेदिति शेषेणान्वयः। तत् कुतः कथंकारं च स्रवेदित्याह—सिराणामिति। सिराणां हृदयाभिमुखरक्तवहानां, धमनीनां हृदयाद् बहिर्गतानां नलिकानां, जालकानां[१] परस्पराश्लेषि-जालाकारसूक्ष्मसिरा-धमनीप्रतानानां वा सर्वकायव्यापिनाम्। तेषामन्यतमानां स्रोतसां त्रुटनाद् भङ्गात्। क्षताक्षतेषु स्थानेषु क्षतस्थानेषु अक्षतस्थानेषु च, न हि सिरादीनां त्रुटनाद्विना रक्तं स्रवति। तेषां स्वरूपं तु प्रत्यक्षशारीरे सम्यग् वर्णितमित्यत्र स्तोकेनैव व्याख्यातम् ॥४७२-४८३॥

अथ अन्तर्निःस्रुतस्य रक्तस्य बहिर्गमनद्वाराणि दर्शयति—ऊर्ध्वमिति। प्रभवस्थानसन्निधौ—यद्रक्तं यतो निःस्रवति तदेव तस्य प्रभवस्थानं यथा आमाशयांत्रवस्त्यादि। तस्य सन्निधौ समीपे। प्रतिलोमगतिः विपरीतगतिः, यथा आमाशयनिःस्रुतस्य रक्तस्य पायुमार्गेण गमनं, ग्रहणीनिःस्रुतस्य वा मुखमार्गेण। अथ तानि तानि द्वाराणि विशिनष्टि—ऊर्ध्वं नासेति। नासापदेन नासाभ्यन्तरगलविलयोः रक्तप्रभवत्वं लक्ष्यते। अक्षिपदेन नेत्रगोलकस्य बाह्याभ्यन्तरभागयोः। कर्णपदेन श्रुतियन्त्रस्य त्रिभागविभक्तस्य। आस्यपदेन मुखाभ्यन्तरस्य सावयवस्य। मेढ्रपदेन शिश्नान्तरीयमूत्रमार्गस्य। उपलक्षणेन स्त्रीणां मूत्रमार्गस्य च, स च योनेरूर्ध्वं पुरस्तात् पृथगेव। योनिः योनिमार्गः, तेन हि प्रवहति गर्भाशयाद् बीजस्रोतोभ्याञ्च निःसृतं रक्तम्। त्वगधः बहिस्त्वगन्तस्त्वचोर्मध्ये, तादृशरक्तनिःस्रुतेश्च चिह्नानि अग्निसंप्लुष्टत्वग्वत्। त्वचो बहिस्तु रोमकूपैः रक्तनिःस्रवः, स क्वचिदेव देशे। यत्तु प्राचीनाचार्यैः रोमकूपैः समस्तैरित्युक्तं तदस्माभिर्न दृष्टम् ॥४८४-४८५॥

अथ रक्तपित्तसम्प्राप्तौ सौश्रुतमतमाह—विदग्धमिति। स्वगुणैः तीक्ष्णोष्णादिगुणैः। विदग्धं विदाहं प्राप्तं, पित्तलानां निषेवणादिति शेषः। पित्तं, पूर्वोक्तवत्

१। सिरादीनां सविस्तरवर्णनं प्रत्यक्षशारीरस्य द्वितीयभागे द्रष्टव्यम्।

सूक्ष्मं स्थूलञ्च, न तु मलभूतम्। आशु शीघ्रं शोणितं विदहति विदाहयुतं करोति। ननु विदाहपदस्य कोऽर्थः, अन्नस्य हि विदाहः आमाशयनिःस्रुताम्लरसाधिक्येन अतिमात्रमम्लीभावः, एवञ्च शोणितस्य विदाहः विदग्धान्नरसमिश्रणात् तथैवाम्लीभावः स्यादिति सुवचम्। परं न तथा वस्तुतो भवतीति सिद्धान्तः परीक्षकाणाम्। तस्माद् रक्तविदाहः रक्तस्य प्रज्वलिताग्निवदवस्थाविशेषः, येन रक्तपित्तपूर्वरूपाणि सम्भवन्ति। तथा च सुश्रुतः—"सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः। लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति"—इति (सुश्रुत० उत्तर० ४५ अ०)। रक्तमात्रावृद्धिस्तु न सुश्रुतानुमता, रक्तविदाहमात्रस्योल्लेखात्।

यत्तु वाग्भटः—"कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तञ्च मुर्छिते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम्॥" इति (अष्टाङ्ग हृ० नि० ३ अ०), तच्चिन्त्यम्। पित्त-रक्तयोः किञ्चित्साधर्म्येऽपि द्रवपित्तस्य रक्तप्रवेशासम्भवात्। यत्र तु रक्तमात्रातिरेकः, तत्र भूरिभोजनाद् रसवृद्धेरेव सः। तुल्यरूपत्वमागम्येति च यदुक्तं, तन्निर्मूलम्। न हि पित्तं रक्तरूपं प्राप्तं क्वचिद् वस्तुतः सम्भवति। यत्तु वाग्भटः—"पित्तन्तु स्वेदरक्तयोः" इति तत्र मलरूपस्य पित्तस्य रक्तादुत्पत्तेः कार्यस्य कारणेऽवस्थानकल्पनया तत्रस्थं पित्तमिति कथञ्चित् सङ्गच्छते। न तु तावता द्रवं पित्तं रक्तेन मिश्रीभूतं तिष्ठतीति सिध्यति। अथ मलरूपं मा तिष्ठतु, धातुरूपं तु तिष्ठत्येवेति चेत, न। तस्यापि सूक्ष्मस्यैव कायाग्नि-धात्वग्निरूपाभ्यां रक्तेऽवस्थानात्, आमाशयादौ वा स्थूलरूपेण कायाग्नेः। एतत्प्रासङ्गिकविचारस्तु अत्रैव अग्निस्वरूपवर्णने दर्शितः।

यत्तु चरके—"तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति।" इति (च० चि० ४ अ०), तस्य ह्ययमर्थः। तस्य पित्तस्य ऊष्मणा स्विद्यतः स्विन्नतां गच्छतो धातोर्धातोः मांसादेः द्रवो धातुः लसीकारूपः प्रसिच्यते प्रक्षरति। तेन च रक्तं प्रविष्टेन तद् रक्तं भूयः अतितरां संवृद्धिमुपचयं गच्छति—इति। तेनापि वाग्भटमतं परास्तम्। अथात्र विचार्यते—किं केवलं पित्तोष्मणैव धातुभ्यो रसप्रसेकः, अस्ति वाऽन्यविधोऽपि तत्सहकारी हेतुः? उच्यते। न हि भूरिभोजनादिना अप्रवृद्धरसस्य कस्यचिद् धातुभ्यस्तादृशद्रवधातुप्रसेको भूयान् सम्भवति। सम्भवंश्च स कालातिसारादाविव आप्यधातुक्षयात् प्रशोषयेत् तांस्तान् मांसादिधातून्। न च तथा शुष्यन्ते धातवो रक्तपित्ते अन्यत्र रक्ताऽतिस्रवणात्। तस्माद् भूरिभोजिनामेव धातौ धातौ पोषकरसवृद्धेः भूयिष्ठरसप्रसेको रक्तपरिमाणं बर्धयति—नान्येषामित्यवश्यं स्वीकार्यम्॥४८६॥

अथवा रक्तसंरम्भाद् येन केनापि हेतुना।
प्रभूतं च्यवते रक्तं यदि तद् रक्तपित्तजम् ॥४८७॥
जलोदरे प्लीहवृद्धौ रक्तमामाशयादितः।
निरियाद् रक्तसंरम्भादुदर्यात् तच्च तादृशम् ॥॥४८८॥

अथ रक्तसंरम्भहेतुकं रक्तपित्तमाह—अथवेति। रक्तसंरम्भो[1] नाम वृष्टेः पूर्वं मेघाडम्बरस्य या वर्षणोन्मुखावस्था, अथवा जलसंप्लवे प्राप्ते समुद्रस्य या संक्रुद्धावस्था, तद्वदवस्थाविशेषो रक्तस्य। स द्विविधः—सार्वकायिकः, स्थानविशेषाश्रयश्च रक्तसंवहनस्य फुस्फुसादिस्थानाश्रयतो भेदकथनात्[2]। येन केनापि हेतुना—यथा (१) भूरिभोजिनां रसवृद्धिहेतोः रक्तमात्राधिक्येन, (२) विदाह्यन्नादिनिदानाभ्यासात् पित्तज-रक्तविदाहेन, (३) अतिक्रोधदुश्चिन्तादिना पित्तानिलप्रकोपात् सिराधमनीजालकानां सङ्कोचे रक्तसम्पीड़नाधिक्येन चेति। शेषोक्तहेतुश्च फिरङ्गादिविषेण रक्तसन्दूषणाद् जराकृतविकृतिहेतोर्वा धमनीप्राचीरिकाणां कठिनीभावे स्थायिरूपेणापि तिष्ठति बहुशः। एवञ्च सम्प्राप्तिभेदात् त्रिविधो रक्तसंरम्भः—यथा रक्तमात्रावृद्धिहेतुकः, रक्तविदाहमात्रहेतुकः, धमनीतन्त्रसङ्कोचाद् रक्तसम्पीड़नहेतुकश्चेति। तत्र रक्तमात्रावृद्धिहेतुका धमनीप्रपूर्णता दोषदूष्यनिर्णये वर्णिता। अत्रेदमवधेयम्। प्रायेण नासादिभ्यो यो रक्तस्रावः, स स्वाभाविकप्रतीकारो रक्तसंरम्भस्य। अत एवोक्तम्—"अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद् दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति।" इति (च० चि० ४ अ०) सुश्रुतेऽप्युक्तम्—"नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग् बलिनोऽश्नतः।" इति (सु० उ० ४५ अ०) ॥४८७॥

स्थानाश्रयं रक्तसंरम्भं दृष्टान्तेन दर्शयति—जलोदर इति। तत्र जलोदरे यकृच्छोषात् याकृतं रक्तसंवहनं यथा व्याहन्यते, प्लीहवृद्धौ च, तदुक्तपूर्वम्। उदर्यरक्तसंरम्भस्तु तत्र विशेषेणोदर्यसिरासु यकृत्प्लीहसन्निहितासु। यत्र तु रक्तसंरम्भविशेषणं याकृतपदं तत्राऽभियाकृत इत्यर्थो व्याख्येयः, गङ्गायां घोष इतिवत्। तच्च जलोदरादौ निःसृतं रक्तं च तादृशं, रक्तपित्तजमेव ॥४८८॥

१। 'संरम्भ'शब्दो नानार्थः—यथा क्रोधः—इति शब्दरत्नावली। आटोपः इति त्रिकाण्डशेषः। तत्प्रयोगास्तु यथा—"अमर्षसंरम्भविनम्रभावाः" इति चरके (चि० ९ अ०) "गम्भीरामल्पसंरम्भाम्" इति सुश्रुते (नि० १३ अ०)। "अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहम्" इति कुमारे च (३य सर्गे)। २। प्रत्यक्षशारीरस्य धमनीखण्डादौ।

आमाशयग्रहण्यादिक्षताद् यच्छोणितं स्रवेत् ।
तद् रक्तपित्तमेव स्याद् रक्तसंरम्भजं यदि ॥४८६॥
धमनीत्रुटने यत्तु फुस्फुसक्षतकोटरात् ।
प्रवर्त्ततेऽसृक् सकफं रक्तपित्तं न तद् दिशेत् ।
दिशेत्तु क्षयलिङ्गानामभावे भूरि निष्कफम् ॥४९०॥

अथापरमपि आमाशयादिक्षतोत्थमम्लपित्तजं शोणितस्रावं वर्णयति—आमाशयेति। आमाशये, ग्रहण्यां, आदिपदेन तदधोवर्त्तिक्षुद्रान्त्रे च, यत् क्षतं क्षतस्थानं तस्मात्। एकवचनेन तदन्यतमात् स्थानादिति सूच्यते। यत् शोणितं स्रवेत्, तद् यदि रक्तसंरम्भजं भवेत्तर्हि रक्तपित्तमेव। उक्तञ्च इहैव अम्लपित्ताधिकारे "रक्तपित्तञ्चोभयगं ग्रहण्यामाशयक्षतात्"। शूलाधिकारे च—"प्रायेणालक्षितं जातु भूरि चास्य स्रवेदसृग्। आशयक्षतसम्भूतमूर्ध्वं वाधो द्विधाऽपि वा" इति। रक्तसंरम्भाभावे तु आमाशयादिक्षतेभ्यः स्तोकेन लक्षितमलक्षितं वा रक्तं किञ्चित् किञ्चिद् वहुधा स्रवदपि न रक्तपित्तमित्यभिसन्धिः। रक्तसंरम्भे पुनः सिराधमन्यादित्रुटनाद् यद् भूरिरक्तस्रवणं, तद् रक्तपित्तमेवेति निष्कर्षः ॥४८९॥

अथ क्षयरोगे कासमानस्य यद् रक्तं निरेति, तद् रक्तपित्तं न वेति निर्णयति—धमनीत्रुटने इति। तत्र हि कालेन फुस्फुसवस्तुक्षयात् क्षतं वर्धमानं कोटरीभवति, ततश्च कासवेगेन तदन्तरीय-निरावरणधमनीत्रुटनाद् यद् रक्तं सकफं प्रवर्त्तते, तद् रक्तपित्तं न दिशेत्—इति वाक्यार्थः। स च रक्तनिःस्रवो द्विविधो दृश्यते—अल्पमल्पं कफसंमिश्रं सिराजालकत्रुटनाद्, भूरितरं वा कासवेगेनाकस्माद् धमन्याः सिराया वा त्रुटनात्। उभयविधमपि तत् कफमिश्रं चेत् न रक्तपित्तं, रक्तसंरम्भाभावादित्यभिप्रायः। उरस्य-रक्तसंरम्भविशेषे तु रक्तपित्तेन साङ्कर्य्यम्। अथ क्षयलिङ्गानां ज्वर-कासादीनामभावे यदि भूरि प्रचुरं निष्कफं कफहीनञ्च रक्तं स्रवेत्, तर्हि रक्तपित्तमिति निर्दिशेत्, प्रायेण रक्तसंरम्भहेतुकत्वात्। अत्रेदमवधेयम्। कफवर्जितोऽपि रक्तनिःस्रवः कदाचिद् उरःक्षतस्य क्षयरोगस्य चारम्भदशायां दृश्यते, तत्र वलवद्विग्रहादिहेतोः रक्तसंरम्भस्य सम्भवाद् रक्तपित्तमुखेन क्षयरोगारम्भो वाच्यः। कदाचित्तु सुचिरस्थायिनि फौस्फुसरक्तसंरम्भे फुस्फुसीयसिरादिभ्यो रक्तनिःस्रवो वर्षाणि यावत् स्वल्पाधिकमात्रया भवति केषाञ्चित्, न च तमनुवर्त्तते क्षयरोगः—इत्यपि दृष्टमस्माभिः। तच्च रक्तपित्तमेव ॥४९०॥

प्रवाहिकादौ यद् रक्तं क्षतान्त्राद् भूरि निःस्रवेत्।
प्रायो न रक्तपित्तं तद्, अर्शसां यच्च शोणितम् ॥४६१॥
ऋते गर्भादार्त्तवस्य निरोधेऽपि कुतश्चन।
मासि मासि स्रवेद्रक्तं तन्न स्याद्रक्तपित्तजम् ॥४६२॥
उन्मार्गार्त्तवसंज्ञं तं रोगमाहुर्विचक्षणाः॥
स्वभावात् स्कन्दते रक्तं शीघ्रं, तच्चेद् विलम्बितम्।
अभिघातादन्यतो वा तदा रक्तं न शाम्यति।
आभासो रक्तपित्तस्य स ज्ञेयो रक्तदौर्बलात्॥४६३-६४॥

अथ रक्तातिसारे दृश्यमानं रक्तनिःस्रवं विविनक्ति—प्रवाहिकादाविति। अत्रादिपदेन अन्येऽप्यतिसारा गृह्यन्ते। क्षतान्त्रात्—पूर्वोक्तहेतुज-क्षतयुक्तादन्त्रात्। तदेतद् विस्तरेण वर्णितपूर्वं प्रवाहिकाधिकारे। तादृशाक्षतेभ्यो रक्तस्रावश्च न रक्तपित्तं, रक्तसंरम्भाभावात्। प्राय इत्युक्तेः क्वचित् सार्वकायिकरक्तसंरम्भेनोदर्य-रक्तसंरम्भेन वा भूरि रक्तस्रावे तस्य रक्तपित्तेन साङ्कर्यमित्यभिसन्धिः। रक्तार्शसां शोणितञ्च न रक्तपित्तम्। ननु तत्रापि अभियाक्तरक्तसंरम्भाद् गुदसिराणां स्फारता त्रुटनञ्च भवतीत्युक्तं भवता, तत् कथं नेदं रक्तपित्तम्—इति चेद्, उच्यते। तत्र वस्तुतो गुदवेष्टनसिराचक्रयोरेव प्रपूर्णत्वाद् गुदसिरामार्गेणैव रक्तस्रावः, न मार्गान्तरेणेति नियमात् पृथक्संज्ञा। यदि तु तत्रापि भूरिरक्तस्रवणं रक्तसंरम्भात्, तर्हि रक्तपित्तेन साङ्कर्यं वाच्यम्। चिकित्सा च तत्र रक्तपित्तस्यैव, तदुक्तं—"प्रवृद्धरक्तेषु च पायुजेषु कुर्याद् विधानं खलु रक्तपैत्तम्।" (सु० उ० ४५ अ०) ॥४६१॥

अथ रक्तपित्तसदृशम् उन्मार्गार्त्तवं[1] नाम स्त्रीरोगमाह — ऋते गर्भादिति। गर्भसञ्चारे सति योषितामार्त्तवं निरुध्यते—इति प्रसिद्धमेव। यत्र तु गर्भादृतेऽपि आर्त्तवस्रावो निरुध्यते, तत्र कदाचिद् आर्त्तवतुल्यं रक्तं मुखनासादिमार्गेण मासि मासि स्रवति, तद् रक्तपित्तजं न वाच्यम्। महति रक्तसंरम्भे तु रक्तपित्तमेव तत्। उन्मार्गार्त्तवमिति। उन्मार्गमार्त्तवं यत्रेति बहुव्रीहिः ॥४६२॥

रक्तपित्ताभासं नाम कुलजं रोगमाह—स्वभावादिति। रक्तं स्वाभाविक-नियमात् स्कन्दते—स्त्यानीभवति। शीघ्रं, सार्धद्वादशपलादारभ्य पञ्चविंशति-

---

१। उन्मार्गार्त्तवम्—Vicarious menstruation.

प्रायो मातृकुलादाप्तः कुलजः पुरुषेषु सः।
क्वचित् पाण्ड्वादिरोगेषु तथा स्यात्तुल्यहेतुतः ॥॥४६५॥

(लिङ्गानि)

रक्तपित्तस्य लिङ्गानि गात्राणां सदनं क्लमः।
तृष्णा मोहस्तथा दाहो मनसः सम्भ्रमो भ्रमः।
शोणितच्छर्दनं वक्त्रे लौहमत्स्यसगन्धता।
रक्तातिसरणं वाऽपि मार्गाभ्यां वा स्रवेदसृक् ॥
धमनीशिथिलत्वं च द्रुतस्पन्दश्च शीतता।
रक्तातिस्रवणात् क्वापि मृत्युर्वा बलसंक्षयात् ॥४६६-६८॥

पलावधिना कालेन[1]। स्कन्दन[2]श्चैतद् निःसृतस्य रक्तस्यैव। तद् रक्तं यदि विलम्बितं यथा स्यात्तथा स्कन्दते—इति शेषः। तदा अभिघाताद् निःसृतम्, अन्यतः कारणान्तराद् वा निःसृतं रक्तं न शाम्यति न निरुध्यते। सोऽयं रक्तदौर्बल्याद्, रक्ते स्कन्दनकारकवस्तुनः अल्पीयस्त्वात्—इति पूर्वेणान्वयः। स चैष रोगो रक्तपित्तस्य आभासः, न तु रक्तपित्तम्। प्रायशः कुलजश्च। दृश्यते चासौ पुरुषेष्वेव, न स्त्रीषु—इत्यस्य वैचित्र्यमाह—प्रायः इति। मातृकुलादाप्तः मातामहाद् मातुलाद् वा, न तु मातुरिति स्मर्त्तव्यम्। कदाचिदकुलजोऽप्ययं रोगः—इत्याह—क्वचिदिति। तुल्यहेतुतः रक्तोपादानदौर्बल्यहेतोः ॥४६३-४६५॥

अथ रक्तपित्तलिङ्गान्याह—रक्तपित्तस्येति। गात्रानां सदनं, सार्वकायिकपेशीनामवसादः। क्लमः, अकृतश्रमस्यापि श्रमानुभूतिः। मोहः, मूढवदवस्था, न तु मूर्च्छा। मनसः सम्भ्रमः—व्याकुलचित्तता। शोणितच्छर्दनं रक्तवमनम्। वक्त्रे मुखे लौहमत्स्ययोः सगन्धता, सदृशगन्धता। धमनीशिथिलत्वं, धमनीनां सुकोमलता। सा च धमनीषु स्वाभाविकरक्तसंपीड़नस्य[3] अल्पीभावात्। द्रुतस्पन्दः स्वाभाविकधमनीस्पन्दनस्य[4] द्रुततरवेगत्वम्। शीतता शीताङ्गता ॥४६६-४६८॥

१। 5 to 10 minutes. सार्धपलद्वयम्—One minute. २। रक्तस्कन्दनम्—Coagulation of blood. ३। रक्तसम्पीड़नम्—Blood-pressure. तद् धमनीप्राचीरिकायां स्थितिस्थापकत्वाद् धमनीविस्फारणस्य हृत्सङ्कोचवेगेन प्रतिक्रियारूपम्। रक्तसम्पीड़नहेतुभूता धमनीप्रपूर्णताऽपि कदाचित् तत्संज्ञया व्यपदिश्यते। ४। स्वाभाविको धमनीवेगस्तु यूनां प्रतिमिनिटं ७०-८० संख्यः। सः बालानामधिकः, ज्वरादिषु च। प्रवयसान्तु मन्दः स्वभावादिति वर्णितं प्रत्यक्षशारीरे।

(विशिष्टलिङ्गानि)

तत्र वातोल्वणत्वे तु सम्भ्रमः कम्प एव च ।
शिरोरुक् शीतकामित्वं लिङ्गानि स्यु र्विशेषतः ॥
पित्तोल्वणत्वे त्वधिके भ्रमिर्दाहोऽधिको भवेत् ।
पित्तच्छर्दिश्च रक्तेन रक्तातीसार एव वा ॥
कफोल्वणत्वे रक्तं स्यात् प्रायेण कफमिश्रितम् ।
शीतत्वं करपादस्य प्रतिश्यायश्च कुत्रचित् ॥
संसृष्टलिंगं संसर्गात्त्रिलिंगं सान्निपातिकम् ॥४९९-५०१॥

(प्रसङ्गाद् रक्तवर्णपरीक्षा)

वक्ष्ये निःस्रुतरक्तस्य लक्षणं वर्णभेदतः ।
दिग्दर्शनाय भिषजां प्रभवस्थानसंशये ॥
गलनासास्रुतं रक्तं क्लोमोत्थितमथापि यत् ।
फुस्फुसान्तःक्षतोत्थं च प्रोज्ज्वलारुणफेनिलम् ॥५०२-३॥
आमाशयक्षतोद्भूतमीषच्छ्यामं हि शोणितम् ।
पक्वजाम्बववर्णं वा कृष्णं वा ग्रहणीक्षतात् ॥५०४॥

अथ विशिष्टलिङ्गान्याह—तत्रेति। वातोल्वणत्वोक्तेः रक्तपित्तस्य द्विदोषजत्वं त्रिदोषजत्वं वा सूच्यते, एवं पित्तोल्वणत्वादौ। पित्तोल्वणत्वे इत्यस्य अधिके इति विशेषणं समधिकपित्तकोपसूचनाय। रक्तपित्ते पित्तोल्वणत्वन्तु सर्वत्र भवत्येव। पित्तच्छर्दिरिति यकृन्निःस्रुतमलभूतपित्तस्य वमनं सह रक्तेन। कफोल्वणत्वे इति। प्रायेण कफमिश्रितमित्युक्तेः क्षयरोगेऽपि उरस्यरक्तसंरम्भात् कदाचिद् भूरि रक्तस्रावे कफोल्वणं रक्तपित्तं निर्देश्यम्—इति सूच्यते। संसर्गादिति द्वन्द्वोल्वणं त्रिविधं रक्तपित्तमुच्यते। त्रिलिंगं सम्मिलितदोषत्रयलक्षणम्, तत्तु क्वचिदेव ॥४९९-५०१॥

अथ निःस्रुतरक्तस्य वर्णभेदेन लक्षणमाह—वक्ष्ये इति। निःस्रुतरक्तस्य प्रभवस्थानविषयकसंशये भिषजां दिग्दर्शनाय वर्णभेदतो लक्ष्यणानि वक्ष्ये—इत्यन्वयः। यद्यपि नैतावता सम्यक् स्थाननिर्णयः सर्वत्र सम्भवति, तथापि दिग्दर्शनाय ज्ञातव्यानि लक्षणानि—इत्यभिप्रायः। गलनासास्रुतं गलतो नासातो वा

श्यामाभन्तु शकृन्मिश्रं स्यादन्त्रक्षतसम्भवम्।
बृहदन्त्रस्रुतं रक्तं तादृगेवारुणं क्वचित्।
धारया बिन्दुशो वापि श्यामाभं रक्तमर्शसाम् ॥५०५॥

(उपद्रवाः)

अतितीव्रा पिपासा च श्वासो हृत्-सदनं तथा।
शीताङ्गताऽवसादश्च रक्तातिक्षरणाद् भवेत्॥
सद्यःफला क्रिया तत्र तूर्णं न क्रियते यदि।
तदा मरणमेव स्याद् हृत्-सादाद् रक्तपित्तिनाम्॥
महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥५०६-८॥

स्रुतं रक्तं, तथा क्लोमनिःस्रुतं श्वासनलिकातः, मतान्तरेण[१] गलविलतो वा, उत्थितम् उद्भूतम्, फुस्फुसान्तरीयक्षतोत्थं च रक्तमुज्ज्वलारुणं फेनिलं च भवति श्वासवायु-सम्पर्कात्। आमाशयक्षतोद्भूतन्तु रक्तमीषत् श्यामं स्तोकेन कृष्णाभं भवति, आमाशयान्तरीयपाचकाम्लरससम्पर्कात। ग्रहणीक्षतनिःस्रुतं तु रक्तं पक्वजाम्बववर्णं परिणतजम्बूफलवद् रक्ताभश्यामं, कृष्णं अञ्जनसन्निभं वा, याकृतपित्तादि-सम्पर्कात ॥५०२-५०४॥

अथ अन्त्रक्षतसम्भवस्य रक्तस्य विशेषमाह—श्यामाभमिति। अत्र अन्त्र-पदेन ग्रहणीवर्ज क्षुद्रान्त्रं गृह्यते। ग्रहण्याः क्षुद्रान्त्रेष्वन्तर्भावेऽपि पूर्वं पृथगुक्तेः। शकृन्मिश्रं विड्विमिश्रम्। ननु अन्त्रपदेन बृहदन्त्रस्यापि ग्रहणमस्तु? मैवं, तस्याग्रे पृथगुक्तेः। बृहदन्त्रस्रुतं बृहदन्त्रस्य कुतश्चिद् भागाद् निःस्रुतं रक्तं तादृगेव श्यामाभं विड्विमिश्रञ्चेति भावः। तत्रापि विशेषमाह—क्वचिदरुणमिति। बृहदन्त्रस्य अवरोहिभागान्निःस्रुतं हि रक्तं प्रायेणारुणवर्णं, तत्र पाकाभावात ॥५०५॥

अथ रक्तपित्तस्य उपद्रवानाह—अतितीव्रा इति। वहुरक्तक्षरणात् शरीरस्य आप्यभागक्षयहेतुकानि पिपासादिलिङ्गानि। श्वासः श्वासकष्टम्। हृत्सदनं हृद्-यन्त्रस्य शनैः क्रियालोपः। सद्यःफला, सद्यः अतिसत्वरं यस्याः फलं दृश्यते तादृशी क्रिया—यथा सिरापथेन रक्तस्कन्दनभेषजप्रयोगः, लवणजलप्रयोगः, जीवद्रक्त-

---

१। प्रत्यक्षशारीरस्य उपोद्घातभागे (नवीनावृत्तौ) आशयखण्डे च क्लोमपदार्थविचारो द्रष्टव्यः।

(साध्यासाध्यलक्षणानि)

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते।
यत् त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ॥५०९॥
ऊर्ध्वं साध्यं बलवतो मुहुर्भूरि न चेत् स्रवेत्।
कष्टसाध्यमधोगामि याप्यं वेति विदुर्बुधाः।
रक्तपित्तमुभाभ्यां यन्मार्गाभ्यां च्यवते भृशम्।
तदसाध्यमिति प्राहुः सत्वरं प्राणसंक्षयात् ॥५१०-११॥
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्याऽनश्नतश्च यत्।
बलमांसक्षये यत्तद् रक्तपित्तं हरत्यसून् ॥५१२॥

प्रवेशनं वा नव्यमतेन। सद्योहतपशुरक्तपायनादि वा वृद्धवैद्यमतेन[१]। सा यदि तूर्णमतिशीघ्रं न क्रियते, तदा मृत्युरेव स्यादतिरक्तस्रवणात्। उक्तमर्थं स्थूणानिखननन्यायेन दृढयति—महागदमिति चरकीयवचनेन। शीघ्रकारि सद्यःप्राणहरम् ॥५०६-८॥

अथ साध्यासाध्यलक्षणान्याह—एकदोषानुगमिति। एको दोषः वायुः कफो वा यत्रानुगः, तदेकदोषानुगम्। तादृशं हि रक्तपित्तं पित्त-रक्तयोरनुगामित्वाद् एकदोषानुगमुच्यते। द्विदोषं द्विदोषानुगं कफवातप्रधानं प्रायः। तद् याप्यं, चिकित्सया कथञ्चिद् यापनीयं, पुनःपुनरुद्रवदर्शनात्। त्रिदोषजन्तु यदि मन्दाग्नेरतिवेगवत्, भृशं भूरि रक्तस्राववत् स्यात्, तदा असाध्यं प्रत्याख्येयम् ॥५०९॥

अथ मार्गानुसारेण साध्यासाध्यतामाह—ऊर्ध्वमिति। साध्यासाध्यता हि हेतु-लक्षण-स्थानाश्रय-रोगबल-रोगिबल-चिकित्सासौकर्यादिनानाविधविचारैर्निर्णीयते, न तु ऊर्ध्वाधोमार्गदर्शनेनैव। तस्मादुक्तं—बलवतः इति, तत्रापि यदि भूरि मुहुश्च रक्तं न स्रवेत, तदैव साध्यम्। ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वगामि, मुखनासादिनिःसृतम्। अधोगामि, पायु-योनि-मूत्रमार्गैः प्रवृत्तम्। ननु अधोगं याप्यमित्याहुः पूर्वाचार्याः, तत् कथं कष्टसाध्यमित्युच्यते—इति चेत्, शृणु। अधोगामि रक्तपित्तं बहुधा कृच्छ्रेण साध्यते, न तु सर्वथाऽसाध्यम्—इति भूयोदर्शनं नः, तस्मादुच्यते कष्टसाध्यमिति। याप्यं वेत्युक्तः कदाचित् तत्कालसाध्यमपि पुनः पुनः प्रवृत्तिशीलमित्यभिप्रायः। बलमांसादिसम्पत्तौ तु नासाध्यतेति तत्त्वम्। प्राचा-

---

१। तादृशं हि रक्तं विशुद्धपात्रे दण्डद्वयरक्षितं स्त्यानीभवति, तस्य शुद्धवस्त्रगालितस्य दधिमस्तुवत् स्वच्छो मस्तुभागः पलमात्रया पायनीयः सह सितयेति वृद्धवैद्योपदेशः।

अथ विविधसन्धिवातनिदानम्।

(निरुक्तयः, भेदाश्च)

ये वातव्याधयः सन्धीनाश्रयन्ति शनैः शनैः।
सद्यो वा शूलशोफाभ्यां सन्धिवाता हि ते मताः॥
रसवातो रक्तवातो विषवातस्तथापरः।
जीर्णवातो जरावातः पञ्च स्युस्तद्भिदा इह ॥५१३-१४॥

(रसवातः)

शाखा-त्रिक-कटी-पृष्ठ-ग्रीवादिषु हि सन्धिषु।
क्वचिच्छोफरुजाकारी सर्वगात्रप्रपीड़नः।

मसाध्यतोक्तिस्तु भूरिरक्तस्रावविषया, कृशादुर्बलरोगिविषया वा। यदि खलु रक्त-पित्तमुभाभ्यां मार्गाभ्यां भृशमतिमात्रं मुहुश्च च्यवते, तर्हि सत्वरप्राणसंक्षयहेतो-रसाध्यमिति युक्तमेव वक्तुम्। व्याधिभिरिति। क्षीणदेहस्य जीर्णदुर्बलशरीरस्य। अनश्नतः अरुचिवह्निमान्द्यादिहेतोः उपयुक्तमन्नमभुञ्जानस्य ॥५१०-५१२॥

अथ सन्ध्याश्रयान् वातव्याधीन् वर्णयितुमुपक्रमते—ये वातव्याधय इति। सन्धिगताः हि वातरोगाः[१] सामान्यतः सन्धिवाताख्याः ते पञ्चविधाः। ते सन्धिषु रुजाशोथौ कृत्वा क्रमशः तद्बन्धनस्नायुरज्जुकोषादीनाक्रम्य तांस्तान् सन्धीन् निश्चलीकरोति। तथाच सुश्रुतः—"हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च" इति (सु० नि० १ अ०)। न चैको वात एव तथा कर्त्तुं क्षमः, रस-रक्तादिधातूनामाश्रयत्वं पित्तकफयोस्तत्साहचर्यं च तत्रापेक्षितम्। तथाच दृश्यन्ते सन्धिवाताः विविधाः, ते चेह यथादृष्टं विभज्य वक्ष्यन्ते हेतुलक्षणादिभि-र्विशेषैः। शनैः शनैः—क्रमशः, सद्यः—सपदि, प्रथमत एव वा। शूलशोफाभ्यां सह सन्धीनाश्रयन्ति। तद्भिदाः, तद्भेदाः इह ग्रन्थे। ॥५१३-५१४॥

अथ आमवातापरपर्यायस्य रसवातस्य[२] निरुक्तिमाह—शाखेति। शाखाः, बाहुद्वयं सक्थिद्वयञ्च। त्रिकं, पृष्ठवंशनिम्नस्थं त्रिकास्थि सपरिसरम्। एवं कटिपृष्ठ-ग्रीवापदान्यपि तत्तत्प्रदेशस्थान् पृष्ठवंशभागान् बोधयन्ति। तेषां सन्धिषु मध्ये (निर्धारे सप्तमी)। क्वचिद्—एकस्मिन् सन्धौ, द्वित्रेष्वधिकेषु वा सन्धिषु।

१। सन्धिवाताः—Osteo-arthritis. २। रसवातः—Rheumatiod Arthritis.

अविपाकाऽरुचियुतोऽल्पज्वरो विज्वरोऽथवा।
रसवातगदः सोऽयमामवातश्च कथ्यते ॥५१५-१६॥

(रक्तवातः)

रुग्दाहरागयुक् शोथः सन्धौ यः शीघ्रसञ्चरः।
चरणांगुष्ठमूलादौ रक्तवातः स उच्यते ॥५१७॥

(विषवातः)

फिरङ्ग-पूयमेहादिविषेणापि तथाविधः।
जान्वंस-कटिपृष्ठादौ विषवातः स उच्यते ॥५१८॥

प्रायेण त्वेकाधिकसन्धिषु। सर्वगात्रप्रपीड़नः, सर्वगात्राणां गौरावाङ्गमर्दादिकृत्। अविपाकः अग्निमान्द्यादजीर्णलक्षणः। अल्पज्वरो विज्वरो वेति कथनात् पूर्वोक्त-सन्धिकसन्निपाताद् भेदो दर्शितः, तत्र हि ज्वरो घोरः—इत्युक्तपूर्वम्। एवञ्चाऽयं रसवातो नाम गदः, आमवातो वा। निरुक्तिस्तु—रसेन दूषितो वातः—इति रसवातः। अजीर्णान्नरसो ह्यामः, तेन दूषितो वातः—आमवातः[१] इति च। ननु "वायुः सामो विबन्धाग्निसाद-तन्द्राऽन्त्रकूजनैः। वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीड़येत्। विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्। स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्य्य-मेघोदये निशि।"—इति प्राचीनोक्तेरेव प्रयोजनसिद्धेः माधवादिभिः संग्रहकारै-रामवातसंज्ञाकरणं[२] व्यर्थमेवेति चेत्, उच्यते। सन्ध्याश्रयित्वप्रतिपत्त्यर्थं हि माधव-करादिविहितं संज्ञाकरणम्। संज्ञा चैषा योगरूढ़ा पङ्कजादिवत् ॥५१५-५१६॥

अथ 'रक्तवाता'ख्यसन्धिवातस्य निरुक्तिमाह—रुग्दाहेति। चरणांगुष्ठ-मूलादौ सन्धौ, पादाङ्गुष्ठमूलस्थसन्धौ पादकूर्चास्थिसन्धिषु, गुल्फसन्धौ वेत्यर्थः। त एते सन्धयो रक्तवातस्य[३] विशेषेण स्थानमिति पृथङ् निर्देशः। आदिपदेन जानु-वंक्षण-कटि-त्रिक-मणिबन्धादिसन्धिषु वा कदाचित्। शीघ्रसञ्चरः, शीघ्र पञ्चषैः सप्ताष्टभिर्वा दिनैः सञ्चरणशीलः, सन्धेः सन्ध्यन्तरगामीत्यर्थः ॥५१७॥

अथ विषवाताख्यं सन्धिवातमाह — फिरंगेति। स च फिरङ्गरोगस्य पूयमेहादिरोगस्य वा यद्विषं तेन जनितः। आदिपदेन दन्तपूयादि[२]रोगजविषस्यापि

१। सन्धिवातानां वंगेषु 'बात' इति संज्ञा, देशान्तरेषु 'गँठिया' इति। २। आमवातसंज्ञा चरक-सुश्रुतादिभिरनुक्ता माधवकरेण कल्पिता, परिगृहीता च सा वृन्द-चक्रपाणि-भावमिश्रादिभि-राचार्यैः। रसवात-रक्तवातादिसंज्ञास्तु ग्रन्थकर्त्तुः। २। Pyorrhœa. ३। Gout.

(जीर्णवातः)

सन्धिवातो भवन् भूयो नानासन्धिसमाश्रयः।
निश्चलीकुरुते सन्धीन् जीर्णवातस्तदोच्यते ॥५१९॥

(जरावातः)

जराजविकृतेरस्थ्नां जरतां कुब्जताकरः।
पृष्ठवंशाश्रयः प्रायः स जरावातसंज्ञकः ॥५२०॥

सन्धिवातप्रदत्वमुच्यते। तथाविधः, रक्तवातसदृशलिङ्गः। फिरङ्गरोगादिवर्णनन्त्वग्रे करिष्यते। सर्वत्र च तत्र रक्तदूषणमेव मुख्यं कारणं सन्धिशोथादेः ॥५१८॥

अथ आमवातादिसन्धिवातानां पुराणावस्थामाह — सन्धिवात—इति। भवन् सम्भवन्। नानासन्धिसमाश्रयः, नानासन्धयः समाश्रया यस्येत्येवम्भूतः। ततश्च हेतोः सन्धीन् बाहु-सक्थि-कटि-त्रिक-पृष्ठादिगतान् निश्चलीकुरुते, तत्तत्-सन्ध्यन्तरीयास्थ्नां संहतीभावात्। सोऽसौ जीर्णवात—इत्युच्यते। इदमत्रावधेयम्। त्रिविधो जीर्णवातः—आमवातसमुत्थः, रक्तवातसमुत्थः, विषवातसमुत्थश्चेति। तत्राद्यः आदित एव बहुसन्धिसमाश्रयः प्रायेण, स चिकित्सया नैरुज्यं भजते अथवा काले बहून् सन्धीन् विकलीकरोति। द्वितीयः एकैकसन्ध्याश्रयः प्रायेणादौ, बहुशाखासन्धिसमाश्रयंश्च काले। उपेक्षितस्तु स एवाङ्गुल्यादिवक्रताकारी सन्धि-पार्श्वेऽर्बुदप्रदश्च। विषवातजस्तु त्रिक-पृष्ठादिसन्धिविकलताकरः प्रायेण ॥५१९॥

अथ जरावातमाह—जराजेति। जरा वार्धक्यम्। सा प्रायः पञ्चाशदूर्ध्व-मिदानीं, पुरा तु नियमिताहाराचारादिवतां सप्ततेरूर्ध्वं भवति[1] स्म। तत्कृताः विकृतयश्च वली-पलित-खालित्य-दन्तपात-कुब्जताद्याः बहवः। तासां मध्ये अस्थ्नाम्, उपलक्षणेन अस्थि-सन्धि-स्नायु-तरुणास्थ्नां जरासम्भवा या विकृतिः, ततो हेतोः। पृष्ठवंशाश्रयः प्रायः, पृष्ठवंशोऽत्र समग्रपृष्ठवंशकशेरुकात्मकः, स आश्रयो यस्येति तथा-भूतः। सोऽयं जरतां वृद्धानां कुब्जताकरः, कशेरुकाणामग्रिमपिण्डक्षयात् कशेरुका-न्तरालस्थतरुणास्थिक्षयाच्च पृष्ठवंशस्य क्रमशः पुरस्ताद् वक्रताकरः ॥५२०॥

१। वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः। ❀ ❀ षोडश-सप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पाः—वृद्धिः, यौवनं, सम्पूर्णता, परिहाणिरिति। तत्र आ विंशतेर्वृद्धिः, आ त्रिंशतो यौवनम्, आ चत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत् परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति। अतःपरं ❀ ❀ ❀ जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते इति (सुश्रुत० सू० ३५ अ०)। चरके तु षष्टेरूर्ध्वं जरा (विमान ८ अ०)।

(निदानम्)

गुर्वतिस्निग्ध-मिष्टान्न-मत्स्यमांसादिभोजिनाम्।
मन्दाग्नीनां निश्चलानामजीर्णेऽपि समश्नताम्।
शीतवातादिसम्पर्काद् विबन्धानामुपेक्षणात्।
सन्धिवाताः प्रजायन्ते हेतुलिङ्गादिभेदतः ॥५२१-२२॥
गुरुस्निग्धातिमधुर-भोजनाद्रसदोषतः।
अचंक्रमणशीलानां रसवातसमुद्भवः ॥५२३॥
मद्यमांसप्रियाणान्तु विदाह्यन्नाद् विशेषतः।
अल्पाम्बुपानात् प्रायेण रक्तवातसमुद्भवः ॥५२४॥

अथ सन्धिवातानां साधारणनिदानमाह—गुर्वतिस्निग्धेति। गुरु—द्रव्यगुरु मात्रागुरु च। अतिस्निग्धं भूरिस्नेहवत्। आदिपदेन वैदलभक्ष्यादि। निश्चलानां व्यायामहीनानाम्। अभ्यस्तव्यायामानामपि व्यायामत्यागेन निश्चलत्वं, तदपि आमवातप्रदम्। अजीर्णेऽपि समश्नतां सम्यग् भुञ्जानानाम्। विबन्धानां वातमूत्र-पूरीषाणां सम्यगप्रवृत्तिरूपाणां यदुपेक्षणं अप्रतिकारः, तस्मात्। हेतुलिङ्गादिभेदतः—इत्यत्रादिपदेन सम्प्राप्तेरपि ग्रहणम्, तेषां भेदतः, भेदानाश्रित्य ॥५२१-२२॥

एवं सामान्यतः सन्धिवातनिदानमभिधाय तद्भेदानां विशिष्टनिदानानि वर्णयति—गुरुस्निग्धेति। रसदोषतः रसस्य अन्नरसस्य यो दोषः आम-श्लेष्मादिजा विकृतिस्ततो हेतोः। अचंक्रमणशीलानां, चंक्रमणं नाम पुनः पुनः सञ्चरणं यत् स्वास्थ्यरक्षार्थं क्रियते लोकैः। तदुपेक्षिणामित्यर्थः ॥५२३॥

अथ रक्तवातस्य निदानं विशेषोल्लेखेन दर्शयति—मद्यमांसेति। स प्रायेण मद्यमांसप्रियाणामेव दृश्यते, विशेषतस्तु विदाह्यन्नात्, कट्वम्लतीक्ष्णबहुलाद् भोजनात्। अल्पाम्बुपायिनाम्—अल्पं स्वाभाविकप्रयोजनान्मात्रया न्यूनम् अम्बु जलं ये सातत्येन पिबन्ति, तेषाम्। उक्तञ्च भावमिश्रेण—"अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद-भूरि" इति। प्रात्यहिकी यथार्हजलपानमात्रा तु चरकादिभिराचार्यैः स्पष्टं नाभिहिता। भिद्यते च सा वयः-शरीराऽऽहारविहार-देशकालादिभेदात्। शिष्यबुद्धि-वैशद्याय जलपानमात्रात्विहोच्यते—"त्रिंशाशस्तनुभारस्य मत्स्यमांसादिभोजिनाम्।

विषवातनिदानन्तु पूयमेहादिकृद् विषम्।
वर्धते तत्प्रभावश्च मिथ्याहारविहारतः ॥५२५॥
शिशूनां दुर्बलानाञ्च प्रसूतानाञ्च योषिताम्।
कदाचित् सन्धिवातः स्यात् स प्रायो विषजो मतः।
शोषिणां क्षयजन्यश्च सन्धिवातः कदाचन।
कुलजाः सन्धिवाताश्च दृश्यन्ते बहुशो नृणाम् ॥५२६-२७॥

मात्रा स्याज्जलपानस्य स्वभावात् प्रत्यहं नृणाम्॥* निरामिषाशिनां स्त्रीणां कृशानां दुग्धपायिनाम्। पादोना युज्यते मात्रा निदाघे पादवर्धिता। अन्नकाले जलं पेयं स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः। जीर्णेऽन्ने प्रचुरं पेयं यथेष्टञ्च तृषादिषु" इति (ग्रन्थकर्त्तुः)। अत्र तृषादिषु तृष्णाश्रमदाहादिषु। जलपानप्रयोजनन्तु मल-मूत्र-स्वेदादिभिः शरीरान्निःसृतस्य आप्यभागस्य सम्यगापूरणेन रक्तस्य स्वाभाविकतरलतारक्षणं पित्तकृत-धातुदाहजन्यसंतापप्रशमनं विविधशारीरमलनिष्काशनं चेति ॥५२४॥

अथ विषवातनिदानमाह—विषवातेति। पूयमेहः वक्ष्यमाणो दुष्टस्त्रीसंसर्गजो मेहः मूत्रप्रसेक-वस्ति-वृकान्तरीयक्षतजः। आदिपदेन दन्तवेष्ट-कण्ठशालूकादिगतेन पूयविषेणापि विषवातः संभवतीति सूच्यते। तत्प्रभावः, विषप्रभावः। वर्धते द्विगुणीभवति त्रिगुणीभवति वा। मिथ्याहारविहारतः पूर्वोक्तनिदानेभ्यः इत्यर्थः ॥५२५॥

अथ कृश-दुर्बल-शिशु-योषितामपि कदाचित सन्धिवातो दृश्यते—स कथं नोक्तः इत्याशङ्क्यां निरस्यन्नाह—शिशूनामिति। स प्रायो विषजः। पितृमातृदोषाद् विषाक्तधात्रीस्तन्यपानाद् वा संक्रान्तेन फिरङ्गादिविषेण। शोषिणामिति। शोषिणामध्वशोष-व्यवायशोषादिवतां राजयक्ष्मिणाञ्च। क्षयजन्यः अस्थिमज्जान्तधातुक्षयजन्यः। अत्रायं विशेषः। आमवात-वातरक्तादिषु यथा रसरक्तादिसंरम्भः, न तथा क्षयजन्ये सन्धिवाते। कुलजा इति। तत्र आमवात-रक्तवातावेव विशेषेण कुलजौ भवत इति स्मर्त्तव्यम्। नृणामिति सामान्योक्तेः वालानां स्त्रीणाञ्च ते पूर्वोक्तनिदानाभावेऽपि कदाचिद् भवन्तीत्युन्नेयम् ॥५२६-५२७॥

---

* तनुभारः शरीरस्य गुरुत्वम्। तद् यथा—यस्य भारः पञ्चाधिकसप्ततिशरावपरिमाणस्तेन सार्धशरावद्वयमितं (5lbs.) जलमहोरात्रेण पातव्यं, किञ्चिन्न्यूनाधिकं वा। तत्रायं हेतुः। दैनन्दिनजलनिःसरणं हि शरीरात्—मूत्रमार्गेण षोडशपलानि, मलेन सह त्रिचतुरपलानि, स्वेदनिःश्वासादिमार्गैः पलचतुष्टयम्। एवं साकल्येन जलनिःसरणपरिमाणम् २४।२५ पलानि (सार्धशरावद्वयम्)।

जरावातोऽपि दौर्बल्यात् सर्वधातुप्रहाणिजात्।
षष्टेरूर्ध्वं भवेत् प्रायः पृष्ठवंशादितः क्रमात् ॥५२८॥
सन्धिवातास्तु सर्वेऽपि शीतवर्षादियोगतः।
पक्षान्ते च प्रवर्धन्ते व्यायामस्य च वर्जनात् ॥५२९॥

(सम्प्राप्तिः, लिङ्गानि च)

सामो वायुः श्लेष्मणा सानुबन्धः
सर्वाङ्गेषु स्व-स्वलिंगैः प्रसर्पन्।
कटी-पृष्ठ-त्रिक-जान्वादिसन्धीन्
रुजन्नुच्चैरामवातं विदध्यात् ॥५३०॥

सन्ध्यन्तरीयः श्लेष्मा च प्रायेणात्र प्रचीयते।
नवे तस्मिन्, पुराणे तु क्रमशः स प्रशुष्यति।

जरावातस्य सम्प्राप्तिमाह—जरावात इति। सर्वधातुप्रहाणिजाद् जरायां प्राप्तायां सर्वे धातवः शनैः प्रहीयन्ते ततः। तादृशप्रहाणिश्च जरागमात् पूर्वमेवारभ्यते। पृष्ठवंशादितः पृष्ठवंशकशेरुकादिक्षयात्। आदिपदेन त्रिकांसजान्वादावपि। भेदश्च जीर्णवात-जरावातयोरीदृशः। जीर्णवातः आमवातादीनां बहुधाऽक्रमणाद् यौवनेऽपि भवति, न तथा जरावातः। किञ्च जीर्णवातः बहुषु सन्धिषु विकलताकरः, जरावातस्तु पृष्ठवंशाश्रयः प्रायः इति ॥५२८॥

अथ सामान्येन सन्धिवातानामनुपशयं दर्शयति—सन्धिवाता इति। शीत-वर्षादियोगतः—शीतः, शीतर्त्तुः शीतदेशादिश्च। वर्षः वर्षर्त्तुरकालवर्षणञ्च। आदि-पदेन प्रवातसेवनादि। तेषां योगतः संपर्कात्। पक्षान्ते शुक्ल-कृष्णपक्षयोः शेषे ॥५२९॥

अथ सन्धिवातेषु रसवातापरपर्यायस्य आमवातस्य सम्प्राप्तिमाह—साम इति। अजीर्णान्नरसः आमः, तेन सहितः सामः। तादृशो वायुः श्लेष्मणा सानुबन्धः कफोल्वणः सर्वांगेषु प्रसर्पन् रक्तस्रोतःसु सञ्चरन् प्रभावमहिम्ना कटिपृष्ठादीन् सन्धीन् विशेषेण पीड़यति। कुटिपृष्ठेत्यादिबहुवचननिर्देशाद् एकाधिकसन्धिगतः प्रायेणामवात इति स्पष्टम्। उच्चैः रुजन्, भृशं पीड़यन् ॥५३०॥

आमवाते दोषदूष्यविकारानाह—सन्ध्यन्तरीय इति। सर्वेषामपि सचल-सन्धीनामभ्यन्तरे वर्त्तन्ते श्लेष्मधराः कलाः कोषरूपाः समन्तात् सन्धेयांशेषु

शुष्यन्ति सन्धिबन्धन्यः पेश्यश्च तरुणास्थि च।
रुजामान्द्यं च तेन स्याद् दृढ़ामर्दसहिष्णुता।
क्रमशः संहतीभावात् सन्धिनिश्चलता तथा ॥५३१-३२॥
अध्यस्थिकीलकाश्चात्र सन्धीनुभयतः स्थिताः।
अन्तर्बहिश्च दृश्यन्ते ते चोन्मर्दासहिष्णवः ॥५३३॥
विदग्धपित्तदोषेण रक्तं सन्दूषितं यदा।
वातं क्षोभयते घोरं रक्तवातस्तदा भवेत् ॥५३४॥
पादांगुष्ठस्य मूलस्थं सन्धिं गुल्फस्थमेव वा।
मणिबन्धादिसन्धिं वा स चादौ पीड़येद् भृशम् ॥५३५॥

संसक्ताः। तदन्तश्च स्रवति श्लेषकः श्लेष्मा नियतं, येन न क्षीयन्ते सन्धेयभागाः, सम्यक् प्रवर्त्तन्ते च सन्धिसमाश्रिता विविधाश्चेष्टाः। आहुश्च—"स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्त्तते। सन्धयः साधु वर्त्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा॥" इति (सु० शा० ४ अ०)। प्रचीयते स्वाभाविकमानादतिरिच्यते। स्वाभाविकमानञ्च तस्य यावता सन्धीनां सम्यक् चेष्टाः सम्भवन्ति तावदेव। स चेद् वर्धते तर्हि स्नायुकोषस्य प्रशूनता सरुजत्वं च भवतः। अतिप्रवृद्धस्तु स क्रोष्टुकशीर्षाख्यं वक्ष्यमाणमुपद्रवं जनयति। नवे तस्मिन् रोगे इत्यस्य पूर्वेणान्वयः। पुराणे तु इति। तस्य पुराणावस्थायामित्यर्थः। प्रशुष्यति, प्रकर्षेण शोषमाप्नोति। किञ्च तत्र सन्धिबन्धन्यः स्नायवोऽपि, पेश्यश्च तत्तत्सन्धिपरिवारिण्यः, तरुणास्थि च मन्व्यन्तरीयं प्रशुष्यन्ति—इति समष्टिवचनाद् बहुवचनम्। रुजामान्द्यं पीड़ाल्पत्वं नाड़ीप्रतानानामपि शोषात्। ततश्च दृढ़ामर्दसहिष्णुता—दृढ़ो यः आमर्दः अन्येन कृतमुन्मर्दनं तस्य सहिष्णुता सहनशक्तिः। क्रमशः संहतीभावात्, असम्मिलितानामस्थिस्नाय्वादीनां पिण्डीभावात्। सन्धिनिश्चलता सन्धेरचलत्वम् ॥५३१-५३२॥

अथ जीर्णवातस्य प्रकारविशेषमाह—<u>अध्यस्थीति</u>। अस्थ्नः उपरि यदस्थि जायते तदध्यस्थि, तन्मयाः कीलकाः सूक्ष्माग्राः स्थूलाग्राः वा। कीलसदृशाः भागाः कीलकाः। ते सन्धीनुभयतः उद्गताः क्वचित् क्वचिद् दृश्यन्ते। ते च कीलकाः उन्मर्दासहिष्णवः अंगुलिभिः दृढ़मर्दं प्रपीड़नं न सहन्ते ॥५३३॥

अथ रक्तवातस्य सम्प्राप्तिं लिङ्गानि वर्णयति—<u>विदग्धेति</u>। विदाह्यन्नसेवनादिना हि पित्तं विदह्यते, तेन च अन्नरसेन सह रक्तं प्रविष्टेन रक्तं यदा सन्दूषितं

रक्तवाते पुराणे तु बहिरंगुलिसन्धितः।
गुल्फ-जान्वादिसन्धेर्वा शुभ्रवस्तु प्रचीयते।
अर्बुदास्तन्मयास्तेन सन्धीनुभयतः स्थिताः।
कदाचित् कर्णपाल्योश्च पेश्यन्तेष्वपि कुत्रचित् ॥५३६-३७॥

भवति तदा तद् घोरं वातप्रकोपमापादयति, सोऽयं रक्तवातो नाम रोगः। स च पादांगुष्ठमूलस्थं गुल्फस्थं वा सन्धिं, क्वचिन्मणिबन्धादेः सन्धिं वा। आदौ नवावस्थायां, पीड़येत् संरुजेत्, दाह-राग-रुजा-शोफैरिति शेषः। सन्धिमित्येकवचनान्तनिर्देशेन प्रत्याक्रमणमेकैकं सन्धिं प्रायः पीड़यतीति सूच्यते।

नन्वेष त्वदुक्तो रक्तवातो वातरक्तस्यैव भेदः, तत्रापि पादमूलादेव प्रसर्पणात्, पित्ताधिकवातरक्ते सन्ध्यादिषु विदाह-रुग्-राग-शोथ-पाकादीनां, दर्शनाच्च। उपद्रवेषु पांगुल्यांगुलिसङ्कोचवक्रता-स्फोटार्बुदानां सम्भवाच्च। मैवम्। वातरक्ते वर्णितानां शीतद्वेष-वेपथु-सुप्तीनाम्, आखुविषवत् सर्वाङ्गप्रसर्पण-कण्डूक्लेदादीनां चेहाऽभावात्। विशेषतश्चेह स्पर्शाज्ञतालक्षणायाः सुप्तेः, मण्डलोत्पत्तेश्च सर्वथैवाऽभावः। किञ्च, "पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपीति" द्विवचननिर्देशात् शरीरस्योभयोर्भागयोर्युगपदनुसर्पति वातरक्तविषमिति स्पष्टम्। न च तथेह दृश्यते। चिकित्सा च वातरक्तकुष्ठयोः प्रायेण समाना। आजानुस्फुटनादीनि लक्षणानि, मोहादिदारुणोपद्रवाश्च प्राणहराः वातरक्त एव भवन्ति, न रक्तवाते। यानि तु कदाचिदंगुलिवक्रतादीनि सदृशलिङ्गानि रक्तवातेऽपि दृश्यन्ते, तानीह स्वल्पविषयाणि मृदुनि च, न तु घोराणि आजानुस्फुटनादिपरिणामवन्ति वा। न चात्र उत्तान-गम्भीरभेदेन द्वैविध्यं लक्ष्यते। तस्मात् पृथगेवैष सन्धिगो रोगो रक्तवातो नाम। वस्तुतस्तु कुष्ठसदृशलक्षण एव वातशोणिताख्यो रोगः, दुर्लभश्चेत्यग्रे प्रतिपादयिष्यामः ॥५३४-५३५॥

अथ पुराणरक्तवातस्य सम्प्राप्तिं लिङ्गानि चाह—रक्तवात इति। अङ्गुलीसन्धितो गुल्फजान्वादिसन्धितो वा बहिः। शुभ्रवस्तु मूत्रजक्षारविशेषः[1]। प्रचयश्च सन्धीनां बहिः सन्धिकोष-स्नायूनामन्तरालेषु भवति। ते चार्बुदाः[2] चणकवत् कोलास्थिवद्वा दृश्यन्ते इति शेषः। तत्र विशेषः, कदाचित् कर्णपाल्योस्तत्रस्थतरुणास्थ्नामुपरि पेश्यन्तेषु चेति ॥५३६-३७॥

१। शुभ्रवस्तु—Sodium Bi-urate. २। अर्बुदाः—Gouty Tophi.

स्फुटन्ति तु कदाचित्ते कृत्वा त्वग्भेदनं ततः।
शुष्कक्षतानि कुर्वन्ति शुभ्रचूर्णं क्षरन्ति च॥
जीर्णवातस्य भेदोऽयं रक्तवातसमुद्भवः।
अंगुलीवक्रताकारी सर्वकर्मण्यताहरः॥५३८-३९॥
अस्थिसन्ध्यभिघातोत्थः सन्धिवातः कदाचन।
सन्धिनैश्चल्यकृत् काले भग्नादेर्दुरुपक्रमात्॥५४०॥

(भेदकलिङ्गानि)

तुल्येऽन्नविषजातत्वे रक्तवाताऽमवातयोः।
शीतोपशयिताद्ये स्यादुष्णोपशयिताऽपरे।
एकसन्ध्याश्रयस्त्वादौ पूर्वोऽन्यो बहुसन्धिगः॥
आद्ये रुग्दाहशूनत्वं मन्दरुक् श्वयथुः परे॥५४१-४२॥

अथैषामर्बुदानां स्फुटनप्रकारमाह—स्फुटन्तीति। कदाचित्—न प्रायशः। स्फुटन्ति चेत्तदा शुष्कक्षतानि अ-पूयरक्तस्राविक्षतानि कुर्वन्ति। अंगुलीवक्रताकारी करपादांगुलीनां कनिष्ठिकाभिमुखवक्रताकारकः। सर्वकर्मण्यताहरः अंगुली-वक्रत्वादेव॥५३८-५३९॥

अथ अस्थिसन्ध्यभिघातजं सन्धिवातमाह—अस्थीति। अस्थ्यभिघातः, अस्थिभङ्गादिः। सन्ध्यभिघातः, सन्धिच्युतादिः। ततः समुत्थितो यः सन्धिवातः, स काले सन्धिनिश्चलतां कुरुते, सम्यगुपक्रमाभावात्। सम्यगुपक्रमश्चात्र यथाकालं कुशा[1]ऽपसारण-सन्धिप्रचेष्टन-संमर्दनादिः। सोऽयं सन्धिवातः शल्यतन्त्रविषय-त्वान्नेह संख्यातः॥५४०॥

अथ रक्तवाताऽमवातयोर्भेदकलिङ्गान्याह — तुल्ये इति। अन्नविषम्, अजीर्णादिसम्भवं निजविषं, तस्मिन हेतौ तुल्ये। अन्नविषजरोगाणां वर्णनं तु चरके ग्रहण्यधिकारे "यात्यन्नं विषरूपतामि"त्युपक्रम्य "कुर्याद् रोगान् रसादिजान्" इत्यन्तेन पाठेन कृतमिह विस्तरभिया नोद्धृतम्। आद्ये रक्तवाते। शीतो-पशयिता शीतजलपानसेचनाद्यैरुपशमः। उष्णोपशयिता तद्विपरीता। पूर्वः रक्तवातः। आदौ नवावस्थायाम्। एकसन्ध्याश्रयः पादांगुष्ठमूलाद्येकसन्धिगः। अन्यः आमवातः॥५४१-५४२॥

१। कुशाः—वंश-काष्ठादिनिर्मिताः पट्टिकाः भग्न बन्धनार्थाः (Splints).

(उपद्रवाः)

कदाचिदामवातादौ विषवाते तु भूरिशः ।
जानुसन्धौ भवेद् घोरो व्रणशोथो महारुजः ।
लसीकासञ्चयकरश्चिरपाकी च दारुणः ।
क्रोष्टुशीर्षकनामाऽयं खञ्जताकृदुपद्रवः ॥५४३-४४॥
वृक्कद्वारेऽथवा वस्तौ सिकता मूत्रसम्भवाः ।
संहत्य गुडिकाः कुर्युर्बहुधा रक्तवातके ।
तासु काचित् निरुन्ध्याच्चेद् गवीनीमार्गमञ्जसा ।
तदा घोरं भवेच्छूलं मूत्राघातस्तथा वमिः ॥

अथ सन्धिवातस्योपद्रवानाह—कदाचिदिति । तु इति भिन्नक्रमे । भूरिशः, बहुषु स्थलेषु । व्रणशोथः, रुग्-राग-दाहादियुता शूनता । लसीकासञ्चयकरः, सन्ध्यन्तरीयश्लेष्मधरकलायां श्लेषकश्लेष्मणः उपचयकरः । चिरपाकी, चिरेण पूयसञ्चारवान् । सोऽयं क्रोष्टुशीर्षकाख्यो रोगः[1] प्राचाम्, आकृत्या शृगालशीर्षवद् दर्शनात् । खञ्जताकृत्, प्रलेपादिप्रयोगात् लसीकाशोषणेन, जलनिष्काशनेन वा कथञ्चिदारोग्येऽपि प्रायः सन्धिनिश्चलताकरः ॥५४३-५४४॥

अथ रक्तवाते बहुशोदृष्टमुपद्रवमश्मरीशूलं[2] वर्णयति—वृक्कद्वारे इति । वृक्कद्वारे, वृक्कस्य मूत्रनिर्माणयन्त्रस्य द्वारे धुस्तूरपुष्पसदृशे अलिन्दभागे । अथवा, वस्तौ मूत्राशये । वृक्कादिविवरणं तु प्रत्यक्षशारीरे वर्णितं द्रष्टव्यम् । मूत्रसम्भवाः, मूत्रस्य घनीभावात्ततः पृथग्भूय निःसृताः । सिकताः वालुकाकृतिकणिकाः, वैद्यके शर्कराऽपरपर्यायाः । संहत्य संहतीभूय । गुड़िकाः, क्षुद्ररुद्राक्षवीजाद्याकारा अश्मरीगुलिकाः । कुर्युः, उत्पादयेयुः । तासु काचिद् गुड़िका यदि कदाचिद् बृहत्त्व-कण्टकितत्वादिहेतोः गवीनीमार्गमञ्जसाऽकस्मात् निरुन्ध्यात्, तदा घोरं शूलम्, अश्मरीकृतमूत्राघातजा तीव्ररुजा भवेत्, मूत्ररोधो वमिश्च । उक्तञ्च—"पच्यमानस्य पित्तेन भिद्यमानस्य वायुना । श्लेष्मणोऽवयवा भिन्नाः शर्करा इति संज्ञिताः । हृत्पीड़ा वेपथुः शूलं कुक्षौ वह्निः सुदुर्बलः । ताभिर्भवति मूर्छा च मूत्राघातश्च दारुणः । मूत्रवेगनिरस्तासु तासु शाम्यति वेदना । यावदन्या

---

१ । Synovitis of Knee-joint. २ । अश्मरीशूलम्—Renal Colic.

वस्तिस्था मेहनस्रोतो रुन्धानाऽपि तथाल्परुक् ।
अन्येऽप्युपद्रवाः केचिद् रक्तवाते भवन्ति हि ।
स्फोटः कण्डूरुदर्दश्च लसीकामेह एव च ।
सर्वाङ्गशोथस्त्वग्रोगाः श्वासो मूत्राल्पता तथा ॥५४५-४८॥

(सामान्योक्तिः)

अम्लपित्तं रक्तपित्तं रक्तवातमिति त्रयम् ।
काय-धात्वग्निदोषोत्थं प्रायशस्तुल्यहेतुकम् ॥५४९॥

पुनर्नैति गुड़िका स्रोतसो मुखम् । शर्करासम्भवस्यैतन्मूत्राघातस्य लक्षणम् ।" इति (सु० उ० ५९ अ०) । वस्तिस्थेति । वस्तिस्था मूत्राशये स्थिता तु सा तादृशी अश्मरीगुड़िका मेहनस्रोतः, मूत्रप्रसेकं, तस्य द्वारं वस्त्यभिमुखं तदन्तरीयमार्गं वा रुन्धाना निरुध्य वर्त्तमानाऽपि तथा, तादृशलक्षणा । किन्त्वल्परुक् अल्परुजाकरी, निरोधस्य शीघ्रमपगमात् । रक्तवाते प्रायोदृष्टानपरानुपद्रवानाह—अन्येऽपीति । स्फोटो दुष्टपिड़काविशेषः । उदर्दः[१] गात्रेषु यतस्ततः सम्भवन् वरटीदष्टसंस्थानः उत्सेधकृत् शोथो वर्णितपूर्वः । लसीकामेहः[२] मेहाधिकारे वक्ष्यमाणः । स च सर्वाङ्गशोथश्चेति द्वयमपि वृक्करोगसम्भवादित्यग्रे व्याख्यास्यते । त्वग्रोगाः विचर्चिकाद्याः । श्वासः, तमकश्वासः[३] कफवातजः प्रसिद्धः ॥५४५-५४८॥

अथ रक्तवातस्य अम्लपित्तादिसजातीयत्वं बोधयति स्वानुभवसिद्धान्तेन— अम्लपित्तमिति । काय-धात्वग्निदोषोत्थं, कायाग्नेर्धात्वग्नेर्वा, उभयस्य वा, ये दोषाः तदुत्थं, अग्निविकृतिजातमित्यर्थः । तुल्यहेतुकत्वं विदाह्यन्नरौद्राग्निसेवनादिरूप-समानहेतुकृतत्वम् । ततश्च तुल्योपक्रमसाध्यताऽपीति सूच्यते । कार्यपार्थक्यन्तु कारणान्तरयोगात् । प्रायश इत्युक्तेः क्वचिद् भिन्नहेतुकत्वमपि सूच्यते । विषवातादौ तु भिन्नहेतुकत्वं स्फुटमेव ॥४४९॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

---

१ । उदर्दः—Urticaria. २ । लसीकामेहः—Albuminuria. ३ । तमकश्वासः—Asthma (Bronchial).

सिद्धान्तनिदानम् ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथ मेहरोगनिदानम् ।

(मूत्रप्रकृतिः मेहनिरुक्तिश्च)

मूत्रं स्वभावात् तन्वच्छमापीतं लवणाम्लकम् ।
प्रायश्च षोड़शपलं पुंसां प्रत्यहमिष्यते ।
स्त्रीणां तु किञ्चिदूनं तद् वालानां तु यथावयः ।
न्यूनं ज्वरातिसारादौ घनं ताम्रं सति ज्वरे ॥५५०-५१॥
प्रभूतं वाऽविलं वाऽपि क्वचिद्वोभयलक्षणम् ।
प्रायशश्चेत् स्रवेन्मूत्रं तदा मेहं विनिर्दिशेत् ॥५५२॥

अथ मूत्रस्य विकृतिलक्षणान् मेहान् विवक्षुर्ग्रन्थकृद् मूत्रस्य प्रकृतिमादौ वर्णयति—मूत्रमिति। स्वभावात—दोषज-कालजविकृतेरभावे सति। तनु, जलवत्तरलं लघु[1] च। अच्छं निर्मलं, पारदर्शकं[2] च। आपीतम्, ईषत्पीताभम्। लवणाम्लकम्—लवणरसं, स्तोकेनाम्लरसञ्च। इत्थं प्राकृतमूत्रस्य स्वरूपमभिधाय दैनन्दिनमूत्रस्रावपरिमाणमाह — प्रत्यहमिति। प्रत्यहं, प्रत्यहोरात्रम्। पुंसां, पुरुषाणां मध्यवयःशरीराणामिति शेषः। षोड़शपलं, १२८ तोलकमानम्[3]। प्राय इत्युक्तेः कचित् न्यूनाधिकमपि। इष्यते, इष्टं भवति स्वास्थ्यरक्षार्थम्। स्त्रीणां तु तत् किञ्चिदूनं, पलेन पलद्वयेन वा। वालानाम्—आषोड़शवर्षाणाम्। यथावयः, वयःपरिमाणानुसारेण किञ्चिदूनमल्पम्। शैशवादारभ्य क्रमशो बर्धमानमपि तत् पूर्णपरिमाणादल्पमित्यभिप्रायः। ज्वरातीसारादावपि न्यूनं किन्तु ज्वरे सति किञ्चिद्घनं, ताम्रवर्णञ्चेत्यधिकम्। तद्धेतुश्च ज्वरे सन्तापाधिक्यादाप्यधातुशोषो धातुदहनाधिक्यञ्च, अतीसारे साक्षादाप्यधातुक्षय एव ॥५५०-५५१॥

अथ मेहरोगस्य निरुक्तिमाह—प्रभूतमिति। प्रभूतं, प्रचुरं स्वाभाविक-

---

१। नव्यमतेन स्वाभाविकमूत्रस्य जलापेक्षिकं गुरुत्वं (Specific Gravity) १००५—इत्यत आरभ्य १०२५ पर्यन्तं भवति (जलस्य गुरुत्वं तु १००० संख्यामितं कल्प्यते)। २। Transparent.
३। About 50 oz.

प्रमेहसंज्ञा प्राचां तु सर्वमेहेषु दृश्यते।
सामान्यतो विशेषात्तु मधुमेहे हि सा मता ॥५५३॥

(मेहनिदानानि)

सर्वदोषसमुत्था हि मेहाः सर्वेऽपि तत्त्वतः।
विभागस्तूल्वणत्वेन तन्निदानान्यथ ब्रुवे ॥५५४॥
कफोत्थानां हि मेहानां निदानं श्लेष्मवर्धनम्।
विशेषान्मधुरं दुग्धं भक्तं व्यायामवर्जनम् ॥
पित्तोल्वणानां मेहानां निदानं पित्तवर्धनम्।
विशेषात् कटु-तीव्राऽम्ल-रौद्र-वह्निनिषेवणम् ॥

मानातिरिक्तम्। आविलं मलयुक्तमनच्छम्। उभयोरेकतरमित्यर्थः। क्वचिद्—न तु प्रायः। उभयलक्षणम्—प्रभूतश्चाविलश्चेति। एवंविधं मूत्रं चेत् प्रायशः, न त्वेकाहं द्वित्राहं वा, स्रवेत्—तदा मेहं विनिर्दिशेत्, कथयेत्। प्रभूताविलमूत्रतेति प्राचीनवचनन्तु योगविभागेन व्याख्येयम्, अन्यथा प्रत्यक्षविरोधो दुर्वारः, उभयलक्षणस्य मेहस्य दुर्लभत्वात् ॥५५२॥

अथ प्रमेहसंज्ञायाः सामान्य-विशेषभावाभ्यां द्विविधं प्राचीनप्रयोगं दर्शयति—प्रमेहसंज्ञेति। यथा हि लोके तृण-मृग-लोहादिशब्दास्तत्तत्सामान्येषु तत्तद्विशेषेषु च प्रयुज्यन्ते, तद्वत् प्रमेहसंज्ञाऽपि प्राचां ग्रन्थेषु—इति भावः। ग्रन्थकृता तु सामान्याभिधाने मेहसंज्ञा, विशेषाभिधाने मधुमेहार्थे पुनः प्रमेहसंज्ञा प्रयुक्तेति स्मर्त्तव्यम् ॥५५३॥

अथ मेहानां सामान्यनिदानान्याह—सर्वदोषेति। सर्वेऽपि मेहाः सर्वदोषसमुत्थाः, त्रिदोषजाः। तेषां विभागस्तु तत्तद्दोषोल्वणत्वेन, प्राधान्येन व्यपदेशः—इति न्यायात्। सुश्रुतोऽप्याह—"सर्व एव सर्वदोषसमुत्थाः सह पिड़काभिः।"—इत्युपक्रम्य "वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा श्लेष्मप्रमेहान् जनयति, वातकफशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो वायुर्वातप्रमेहान्"—इति (सु० निदान० ६ अ०) ॥५५४॥

अथैषां निदानान्याह—कफोत्थानामिति श्लोकत्रयेण। कफोत्थानां, कफोल्वणानाम्। मधुरम्, इक्षुविकारजं वस्तुमात्रं, खर्जूरादि च। दुग्धं गव्य-

वातोल्वणानां मेहानां हेतुर्वातलसेवनम्।
विशेषात् क्षय-विक्षोभ-शोक-चिन्ता-प्रजागराः ।५५५-५७।
आगन्तुहेतुकाश्चापि सन्ति मेहाः पृथग्विधाः।
यथा हि वक्ष्यमाणाः स्युः सूक्ष्मजन्त्वादिसम्भवाः ।।५५८।।

(अथ मेहभेदाः)

विंशतिर्विंशतिर्मेहाः प्राचां न च समन्वयः।
समुच्चये तु त्र्यधिका तथाऽप्युक्ता न केचन।

माहिषादिपयः, तद्वैकृतानि च मधुराणि, न तु किलाटं[1] तक्रं वा तत्र मधुरत्वाभावात्। भक्तं तण्डुलान्नम्, यावद् गोधूमादिजं च। तीव्राम्लं, अत्यम्लनिम्बूफलादि। क्षयः, अतिवीर्यक्षयादिः। विक्षोभः, वित्तनाशभय-क्रोधादिजः। चिन्ता—दुश्चिन्ता, मानसिकश्रमश्च। प्रजागरः, बहुशो रात्रिजागरणम्। ननु द्विदोषोल्वणत्वमपि मेहेषु वक्तव्यमिति चेत्, सत्यम्। भवत्येव तत् कदाचिद् यथा सिकतामेहे, तदिह विस्तरभियानोक्तम्। लक्षणसाङ्कर्यदर्शनात्तु समुन्नेयम् ।।५५५-५७।।

अथ आगन्तुमेहानां निदानान्युद्दिशति—आगन्तुहेतुका इति। सूक्ष्मजन्त्वादिसम्भवाः—सूक्ष्माः अणवः, अदृश्या अपि, ते अणुवीक्षणयंत्रसहायेन चक्षुषा दृश्या जन्तवः स्थावरा जङ्गमाश्च[2] रक्तादिसञ्चराः, तेभ्यो हि पूयमेह-वसामेहाद्याः मेहाः सम्भवन्तीत्यग्रे वक्ष्यते। आदिपदेन वक्ष्यमाणभेषजमेहस्यापि ग्रहणम्, वर्णाढ्यभेषजादिग्रहणेनापि हि कदाचिद् रक्त-पीत-नीलादिमेहानां सम्भवः। दोषदुष्टिस्तु आगन्तुमेहेष्वपि काले भवत्येव। अन्यत् स्पष्टम् ।।५५८।।

अथ मेहभेदान् वक्तुमुपक्रमते प्राचीनमतावेक्षणमुखेन—विंशतिरिति। प्राचां चरक-सुश्रुत-वाग्भटादिप्राचीनाचार्याणां संमता विंशतिर्मेहाः प्रतितन्त्रम्। विंशतिपदस्य द्विरुक्तिर्वीप्सायाम्। न च समन्वयः, तत्तन्मतानां सर्वथा परस्परसामञ्जस्यं च नास्ति, बहुधा नाम-लक्षणभेददर्शनात्। तथाहि चरकोक्ताः केचित् मेहाः सुश्रुते न दृश्यन्ते यथा आलालमेह-सान्द्रप्रसादमेह-कालमेहाः। सुश्रुतोक्ताश्च केचिन्न

१। किलाटं—छाना इति प्रसिद्धं, तत् निम्बूरसादिना पाकेन दुग्धात् पृथग् भवति (Casein).

२। अणुजन्तवः स्थावराः—Bacteria. त एव जङ्गमाः—सूक्ष्मक्रिमयः—Microscopic parasites, e. g. micro-filaria, तेषां चास्तित्वं सुश्रुतादिभिरपि स्वीकृतम्—"रक्तवाहिसिरास्थानां रक्तजा जन्तवोऽणवः। अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः"—इत्यादि वचनैः।

सन्दिग्धार्थाश्च बहवः, शिष्यबोधसुखाय तत्।
उक्तानुक्तान् प्रवक्ष्यामो मेहानिह तु षोड़श ॥५५९-६०॥

चरके यथा सुरामेह-फेनमेह-लवणमेहाः। वाग्भटस्य पुनस्तृतीयः पन्थाः, चरक-सुश्रुतोक्तमेहानां यदृच्छया मेलकेन विंशतिसंख्यापूरणात्। माधवस्तु वाग्भटमत-मनुसृत्य तत्पाठानेवोद्धधार। श्रीकण्ठः पुनस्तद्व्याख्यानप्रसंगे प्राह—"सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव, परस्परलक्षणसंवादाभावात् स्मृतिद्वैधवत् सर्वं प्रमाणम्"—इति। एवञ्च माऽस्तु समन्वयः, समुच्चयः क्रियतामिति प्रसंगे दर्शयति—समुच्चयेत्विति। समुच्चये समष्टिग्रहणे तु संख्या त्र्यधिका साकल्येन त्रयोविंशतिः * स्यात्। अस्तु नाम तथा, सर्वसंग्रहस्तु करणीयः—इति सम्भावनायामाह—तथापीति। तथापि संख्यागौरवस्वीकारेऽपि केचन नोक्ताः, अनुक्ताः एव स्युः, यथा वक्ष्यमाणाः पूयमेह-भेषजमेहाद्याः। ते च अवश्यवक्तव्याः, अद्यत्वे प्रत्यक्षदृष्टत्वात्। तस्मान्न सर्वमेह-संग्रहः। अपरमपि दोषं दर्शयति—सन्दिग्धार्थाश्चेति। बहवो मेहाः प्राचां मताः सन्दिग्धार्थाश्च—यथा सान्द्रमेह-सान्द्रप्रसादमेह-शीतमेहाः। तथाहि पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति चेत् तदा सान्द्रमेहमाहुः, उपर्यच्छमधोघनञ्च सान्द्रप्रसादमेहम्। तत्र सन्देहः—स्वस्थानामपि मूत्रं पर्युषितं सान्द्रीभवति प्रायः, उपर्यच्छमधोघनञ्च काले। एवमिक्षूदक-शीतमेहेषु—मूत्रस्य शीतता वर्णिता। सा शीताङ्गानां मुमूर्षूणामेव भवति, नान्येषाम्, स्वाभाविकशारीरसन्तापस्य नियतजागरूकत्वात्। एवं शनैर्मेहो मूत्राघातसदृशलिङ्गः, तत्र प्रभूताविलमूत्रताऽपि नास्ति, तस्मादव्याप्ति-र्लक्षणस्य। इक्षुमेह-शीतमेह-क्षौद्रमेहेषु च तुल्ये मूत्रमाधुर्ये तन्त्रोक्तत्रिविध-विभागकरणे प्रत्यक्षानुगः पुष्कलो हेतुर्नोपलभ्यते—इति दिक्। तत्, ततः कारणात्, शिष्याणां बोधसुखाय उक्तानुक्तान् प्राचीनैर्वर्णितानवर्णितांश्च मेहान् षोड़शसंख्यानेवात्र ग्रन्थे प्रवक्ष्यामः व्याख्यास्यामः। तावत्संख्येष्वेव मेहेषु सर्वमेह-संग्रहात्, संख्यालाघवात्, प्रत्यक्षलक्षणानुगमाच्च ॥५५९-५६०॥

---

* समष्ट्या त्रयोविंशतिश्चेत्थं भवति। प्राचां सम्मतेषु मेहेषु उदकेक्षु-सान्द्र-शुक्र-सिकता-शनैर्मेहाः सर्वतंत्रसमानाः, शुक्र-पिष्टमेहा नामभेदेऽप्येक एव तुल्यलक्षणत्वात्, एवं सान्द्र-प्रसाद-सुरामेहावपि — इत्यष्टौ मेहाः समानलिङ्गाः। चत्वारस्तु भिन्नसंज्ञा-लक्षणाः—यथा चरकोक्तौ—आलाल-शीतमेहौ, सुश्रुतोक्तौ फेन-लवणमेहौ चेति। तस्माद् द्वादश कफजमेहाः समुच्चयेन। अथ पित्तजमेहेषु नील-हारिद्र-माञ्जिष्ठ-रक्त-क्षारमेहाः समानाः, चरकोक्तः कालमेहः, सुश्रुतोक्तः अम्लमेहश्च पृथगेवेति सप्त पित्तजमेहाः समुच्चयेन। कफजमेहास्तु चत्वार एव सर्वत्र सर्पिर्मेह-मज्जमेहयोरभेदकल्पनया। तस्मात् साकल्येन त्र्यधिका विंशतिर्मेहाः प्राचाम्।

नामभिर्विविधा मेहा मूत्रवर्णादिभेदतः ।
रोगान्तराणां लिङ्गानि केचित्तेषु तु तद्विदाम् ॥५६१॥

(अथ लिङ्गानि)

(उदकमेहः) अच्छं बहु मुहुर्गन्ध-वर्णहीनं जलोपमम् ।
मेहत्युदकमेहेन मूत्रं माधुर्यवर्जितम् ॥५६२॥
स चापि द्विविधो ज्ञेयः कफजो वातजस्तथा ।
कफजो मधुमेहाग्रयोऽपरो भूम्ना तु योषिताम् ॥५६३॥

(पिष्टमेहः) पिष्टमिश्रोदकनिभं तले सान्द्रश्च रञ्जितम् ।
मूत्रं यत्र भवेत् प्रायः पिष्टमेहः स उच्यते ॥५६४॥

अथ मेहानां नामभेदहेतून् वर्णयति—नामभिरिति । नामभिस्तत्तद्विशिष्ट-संज्ञाभिः । मूत्रवर्णादिभेदतः—मूत्रस्य वर्णाः नील-पीत-रक्तादयः । आदिपदेन घनत्वाविलत्व-विस्रत्वादयश्च । तेषु च मेहेषु कतिचिन्मेहाः रोगान्तराणां लिङ्गानि, न तु स्वयं व्याधयः । तस्मात्तत्र तत्र न रोगसांकर्यमिति भावः । तद्विदाम्, रोगविशेषाभिज्ञानाम् । तद्दृष्टान्ताश्च यथा—वृक्करोगस्य लिंगं लसीकामेहः, श्लीपदस्य (उपद्रवः) वसामेहः, कामलारोगस्य लिङ्गं हारिद्रमेहः, अश्मरीरोगस्य सिकतामेहः, वृक्कवस्त्यादिषु शोणितस्रवात् रक्तमेहः—इत्येवमादयः । तथापि मेहनमार्गेण अस्वाभाविकवस्तुक्षरणात् तत्र तत्र मेहाभिधानं न दोषाय ॥५६१॥

अथ स्व-सिद्धान्तेन षोड़शमेहानां सम्प्राप्तिसहितानि लिङ्गानि वर्णयति—अच्छमिति । अच्छमनाविलं, पारदर्शकम् । बहु प्रभूतम् । मुहुः, बहुधा । स्वभावतस्तु अहोरात्रेण षड्वारं मूत्रणं प्रशस्यते । माधुर्यवर्जितमित्युक्त्या मधु-मेहाद् भेदो दर्शितः । स चापीति । स च उदकमेहः[1] द्विविधः—कफजः कफोल्वणः, वातजः वातोल्वणश्चेति । तत्राद्यः, मधुमेहाग्रयः । मधुमेहस्य भविष्यतः सूचकः । अपरो वातजः उदकमेहः, भूम्ना प्रायशः योषितां भवति वालानां च कदाचिद् भय-शोक-चिन्ता-प्रजागरादिहेतोरिति स्वानुभवमूलः सिद्धान्तः ॥५६२-५६३॥

पिष्टमेहमाह—पिष्टमिश्रेति । पिष्टमिश्रोदकनिभं पिष्टतण्डुलमिश्रजलसदृशम् ।

---

१ । उदकमेहः (कफजः)—Diabetes Insipious. स एव वातजः—Nervous Polyuria.

(शुक्रमेहः) प्रायेण शुक्रमिश्रं हि शुक्रमेही प्रमेहति।
स प्रायः कामजो यूनां विबन्धादौ तु सोऽधिकः ॥५६५॥
(लालामेहः) लालातन्तुयुतं मूत्रं लालां वा यस्तु मेहति।
तं लालामेहिनं विद्यात् स प्रायः स्वप्नदोषयुक् ॥
स चापि कामजो रोगो यूनां प्रायेण दृश्यते।
पौरुषग्रन्थिजा लाला ह्यत्र स्रवति भूरिशः ॥५६६-६७॥

स्वल्पकालमपि रक्षितं स्थिरीभूतं सत् तले सान्द्रं, पात्रस्याऽधोभागे अद्रवणीयवस्तु-पातनकृत्। सोऽयं पिष्टमहः[1] चरके शुक्रमेहसंज्ञः। अन्यत् स्पष्टम् ॥५६४॥

शुक्रमेहमाह—प्रायेणेति। स्वभावतस्तु व्यवायानन्तरं वारमेकं द्विर्वा स्तोकेन शुक्रमिश्रं मूत्रं केषाञ्चिद् भवति, तत्र शुक्रकीटं मूत्रस्य सूक्ष्मपरीक्षया दृश्यम्। प्रायेण चेत्तथा भवति, तदा शुक्रमेहं[2] विद्यात्। शुक्रनिर्माण-सञ्चयादिकार्याणि वृषणशुक्रप्रपिकयोर्यथा भवन्ति, तत् प्रत्यक्षशारीरे (आशयखण्डे) वर्णितं द्रष्टव्यम्। स प्राय—इति। कामुकानां विशेषतो भवतीति कामजः। विबन्धादौ, मलविबन्धे मूत्रकृच्छ्रे च प्रवाहमाणस्य सः अधिकः भूयस्तरः, केवलशुक्रस्रावो हि यूनां प्रायशः, कठिनमलोत्सर्गकाले इति शेषः। तद्धेतुश्च यौवने शुक्रप्रपिकायाः शुक्रातिपूर्णत्वं तत्पीड़नञ्च विबद्धमलपूर्णगुदनलिकायाः प्रवाहणकृतसङ्कोचेन ॥५६५॥

लालामेह[3]माह—लालातन्तुयुतमिति। लाला मुखलालावत् पिच्छिलपदार्थः। तन्तवः, सूक्ष्मसूत्राणि तत्सम्भवान्येव। लालां वेति लालामेव वा कदाचित्। स लालामेही प्रायः स्वप्नदोषयुक्। स्वप्नदोषो नाम स्वापकाले कयाचिद् स्वप्नदृष्टयोषिता मैथुनं, कदाचिन्मैथुनानुभवं विनाऽपि वीर्यपातश्च, तेन युक्तः। स चापीति। कामजः, कामुकताविशेषजातः। स चायं रोगः प्रायेण यूनां, कदाचित् प्रौढ़ानामपि, दृश्यते। कुतो वेयं लालेति दर्शयति—पौरुषेति। पौरुषग्रन्थिर्नाम[4] पुरुषस्य वस्तिद्वारमावेष्ट्य स्थितो लालाग्रन्थिरक्षोटफलाकारः। ततश्च प्रचुरा लाला स्रवति स्वभावात् कामोद्रेके। स च स्रावो यूनां भूरितरः। अतिकामिनान्तु

१। पिष्टमेहः—Phosphaturia. २। शुक्रमेहः—Spermatorrhœa. ३। लालामेहः—Excessive Prostatic secretion. ४। पौरुषग्रन्थिः—Prostate gland. तद्वर्णनं प्रत्यक्षशारीरस्याशयखण्डेऽपि द्रष्टव्यम्।

(लसीकामेहः) वृक्काभ्यां निःस्रुतं मूत्रं लसीकावर्जितं स्वतः।
वृक्करोगेषु सा मूत्रे मिश्रितैव प्रवर्त्तते॥
लसीकामेहसंज्ञोऽयं, द्विविधः स च दृश्यते।
बहुमूत्रोऽल्पमूत्रश्च, भूम्ना शोथसखः परः॥५६८-६९॥
(सिकतामेहः) मूर्त्ताणून् सिकतामेही सह मूत्रेण मेहति।
अल्पाम्बुपानात् स प्रायो विदग्धाजीर्णतस्तथा॥५७०॥

मूत्रेण सह, पृथग् वा मुहुः स्रवति लाला। सोऽयं लालामेहश्चरकस्य आलालमेह-संज्ञः। शुक्रमेह-लालामेहयोः साङ्कर्यञ्च दृश्यं बहुधेति स्मर्त्तव्यम्॥५६६-५६७॥

अथ लसीकामेहं व्याचिख्यासुः सम्प्राप्तिवर्णनमुखेनोपक्रमते—वृक्काभ्यामिति। मूत्रं हि रक्तस्य त्याज्यभागः आप्यः, तद् वृक्काभ्यां रक्तात् पृथक्कृत्य निष्कास्यते। रक्तं हि वृक्कयोः प्रविशति अनुवृक्काभ्यां धमनीभ्याम्। तयोश्च सूक्ष्मातिसूक्ष्माः शाखाप्रतानाः समन्ताद् वृक्कवस्तुनि बाह्ये प्रसृताः स्वकीयं त्याज्यं सलवणजलभागं सूक्ष्मेषु उत्सिकाख्येषु मूत्रनिर्माणयन्त्रेष्वर्पयन्ति। तेभ्यश्च निःसरत् मूत्रं गवीनी-शीर्षकयोरन्तरुपचीयते विन्दुशो निःस्रुतम्। प्रवर्त्तते च तत् तथोपचितं गवीनीभ्यां वस्तौ—इति सुविदितं शारीरविदाम्†। लसीकावर्जितमिति। स्वतः स्वभावात् लसीकानिर्मुक्तम्। लसीका[१] नाम शोणितस्य तन्वच्छ-पिच्छिल आप्यभागः सर्वधातु-पोषणः, सा मूत्रेण सह न निर्गच्छति, अन्यत्र वृक्करोगादिति हि चित्रः स्वाभाविक-नियमः। वृक्करोगेषु तु सा मूत्रेण सह स्तोकेनाधिक्येन वा निर्गच्छति। सोऽयं लसीकामेहः[२]। स च द्विविधः, अल्पमूत्रो बहुमूत्रश्चेति। तत्र परः द्वितीयः अल्पमूत्रो लसीकामेहः भूम्ना प्रायः शोथसखः पाणिपादमुखादिशोथसहितो दृश्यते। बहुमूत्रस्तु स प्रायो न शोथवान्—इत्यभिसन्धिः। अनयोश्च द्वैविध्यं प्राचां ग्रन्थेष्वपि भंग्यन्तरेण सूचितम्—यथा चरकादौ लसीकामेह एव बहुमूत्रस्रावी हस्तिमेह इत्युच्यते। अल्प-मूत्रस्तु फेनमेहः—यथोक्तं "स्तोकं स्तोकं सफेनमच्छं फेनमेही मेहतीति" (सु० नि० ६ अ०)। फेनमेह-लसीकामेहयोरभेदश्च श्रीकण्ठेन दर्शितः॥५६८-६९॥

अथ सिकतामेहं[३] माह—मूर्त्ताणूनिति। मूर्त्तान् दर्शन-स्पर्शनयोग्यान् अणून् सूक्ष्म-सिकताकारान् कणान्। सिकताः—वालुकाः, ताश्च प्रायेण इष्टकाचूर्णवर्णाः

---

† विस्तरस्तु प्रत्यक्षशारीरे द्रष्टव्यः। १। लसीका—Albumin (sometimes Lymph). २। लसीकामेहः—Albuminuria. ३। सिकतामेहः—Lithuria (sand in urine—which may be as reddish yellow or whitish particles).

(क्षारमेहः) गन्ध-वर्ण-रसैः क्षारं क्षारमेही प्रमेहति ।

(अम्लमेहः) अत्यम्लं रसगन्धाभ्यां मूत्रं स्यादम्लमेहिनः ॥५७१॥

(हारिद्रमेहः) घोरहारिद्रवर्णं तु मूत्रं हारिद्रमेहिनः ।

स भवेत् पित्तदोषेण कामलादौ यकृद्गदे ॥५७२॥

(रक्तमेहः) रक्तवर्णं विवर्णं वा रक्तमेही प्रमेहति ।

माञ्जिष्ठमरुणं वापि मसीवर्णमथापि वा ॥

तत्राद्यं धूम्ररक्ताभं वृक्कान्तः शोणितस्रवात् ।

वस्तौ वा मेहनान्तर्वा रक्तस्रावाद् भृशारुणम् ।५७३-७४।

पीताभाः श्वेतवर्णा वा मूत्रे अद्रवणीयाश्च, ताः पात्ररक्षितमूत्रस्याधः पतन्ति। संहतीभूताश्च ताः गुड़िकाकारपरिणता अश्मर्यो भवन्तीत्युक्तपूर्वम् । तद्विस्तरः अश्मरीप्रसंगे व्याख्येयः। सिकतामेहस्य निदानमाह प्रसङ्गात्—अल्पाम्बुपानादिति । विदग्धाजीर्णतस्तथेति च । तत्र विदग्धपित्तजः पीताभरक्तसिकतायुतः । श्वेताभ-सिकतायुतः श्लेष्मोल्वणः, श्लेष्मलनिदानजत्वात् ॥५७०॥

अथ क्षाराम्लमेहौ वर्णयति—गन्ध-वर्णेति । क्षारो हि अम्लविपरीतः † यः काष्ठादिभस्मतो निष्काश्यते जलसंयोगेन द्रवीकृत्य, क्षारजलञ्च किञ्चिदाविल-पिच्छिलमीषद्रक्ताभं तीक्ष्णास्वादं च, घनत्वे सति दहनकरञ्च तद् भवति । मूत्रन्तु स्तोकेनैव क्षारास्वादं भवति क्षाराल्पत्वात् । तदाधिक्ये क्षारमेहः[१] स्वभावतस्तु ईषदम्लस्वभावमेव मूत्रमित्युक्तपूर्वमिहैव—"मूत्रं स्वभावात्तन्वच्छमापीतं लवणाम्लकम्" इति । अम्लत्वाधिक्ये तु अम्लमेहः[२], अत एवोच्यते—अत्यम्लमिति ॥५७१॥

अथ हारिद्रमेहमाह—घोरहारिद्रमिति । स हारिद्रमेहः[३] पित्तदोषेणेति पित्त-विकारेण । कामलादौ—इति विशेषणं यकृद्गदस्य । सामान्ये एकवचनम् । आदि-पदेन पित्तरोचनादिरोगेष्वपि । हारिद्रमेहेन सह कदाचिद् रक्तस्रावे तु रक्तपित्तमिति प्राचः। यथाह सुश्रुतः—"हारिद्रवर्णं रुधिरञ्च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः। यो मूत्रयेत्तन्न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः"—इति ॥५७२॥

अथ रक्तमेहमाह[४]—रक्तवर्णमिति । विवर्णं रक्तविकृतिसम्भूतवस्तुयोगात्

---

† तदुक्तं सुश्रुते "तत्राम्लवर्गः शमनः" इति (सूत्र ११ अ०)। १। क्षारमेहः—Highly alkaline urine. २। अम्लमेहः—Highly acid urine. ३। हारिद्रमेहः—Excess of Bile in urine. ४। रक्तमेहः—Hæmaturia.

श्लीपदादिक्रिमेर्वापि कदाचिद् रक्तमूत्रता।
अतिमैथुनतो वाऽपि रक्तं मूत्रे प्रवर्त्तते।
पूयमेहे तथाश्मर्यां कदाचिद् रक्तमूत्रता।
विषमज्वरतः क्वापि कालमेहस्य सम्भवः ॥५७५-७६॥

(नीलमेहः) शकृतः सञ्चयाद् भूयो नीलमेहः प्रजायते।
विस्रं नीलञ्च तन्मूत्रमुदावर्त्तादिषु क्वचित् ॥५७७॥

(पूयमेहः) पूयमिश्रं यदा मूत्रमाविलं च तले घनम्।
विस्रञ्च पूयमेहोऽसौ वृक्क-वस्त्यादिपाकतः।

मञ्जिष्ठादिवर्णम्। अरुणवर्णन्तु अनतिविकृतरक्तसंयोगात्। माञ्जिष्ठं पुनः श्याम-रक्ताभम्। मसीवर्णं तु अतिविकृतरक्तसंयोगात्। तत्राद्यमिति। आद्यं माञ्जिष्ठम्। मूत्रमिति सर्वत्र योज्यम्। माञ्जिष्ठमेहश्च प्रायो वृक्कवस्तुनि रक्तस्रावाद् भवति। श्लीपदादिक्रिमेरिति। श्लीपदरोगे सूक्ष्माः सूत्राकाराः क्रिमयो रक्ते सञ्चरन्ति, ते चेद् रक्ते संहतीभूताः वृक्कान्तः प्रविशन्ति, तदा वृक्कवस्तिक्षणनाद् रक्तमेहः, स च कदाचिद् दुग्धाभेन वसाभेन वा मूत्रेण सह प्रवर्त्तते। तत्र उभयविध-मेहसाङ्कर्यं वाच्यम्। विषमज्वरत इति। विषमज्वरस्य पुराणावस्थायां कदाचित् मूत्रस्य रक्ताभकृष्णता भवति स कालमेहः। स कुइनिनाख्यभेषजस्यातिप्रयोगात् रक्तविकृतिविशेषेण सम्भवतीति केचित्। एवञ्च त्रिविधो रक्तमेहः—माञ्जिष्ठमेहः,[1] अरुणरक्तमेहः[2] कालमेह[3]श्चेति फलितार्थः। अत्रेदमवधेयम् — मसीवद्वस्तुबहुले वस्त्यर्बुदेऽपि जाते कदाचिद् मसीवर्णं मूत्रं भवति, सोऽपि कालमेहस्यैव भेदः[4]। पूयमेहे तु वक्ष्यमाणे मूत्रेण सह क्षतजक्षरणे उभयोः साङ्कर्यम् ॥५७३-५७६॥

अथ नीलमेहमाह—शकृत इति। शकृतः मलस्य, पक्काशये भूयः आधिक्येन सञ्चयात्। विस्रं दुर्गन्धि। तत्र मलसञ्चयोद्भूतपूतिवस्तुनो रक्ते समाकृष्टस्य मूत्रेण सह निर्गमात् नीलमेहः[5]। कदाचिद् नीलभेषजयोगादपि नीलमेहो भवति ॥५७७॥

अथ पूयमेहमाह—पूयमिश्रमिति। आविलमस्वच्छम्। तले घनं, तलदेशे सान्द्रपूयपतनात्। विस्रं दुर्गन्धि। ईदृशं मूत्रञ्चेत् तदा पूयमेहः[6]। स च वृक्क-

---

१। Hæmoglobinuria (smoky urine). २। Hæmaturia. ३। Black-water fever. ४। Melanuria. ५। Indicanuria (Blue urine). ६। Piyuria (which is often non-gonorrhœal).

आगन्तुः पूयमेहोऽन्यो विषजो यत्र मूत्रणात्।
पुरः पूयं सरुगूरक्तं, तनु वाऽरुक प्रवर्त्तते ॥५७८-७९॥
(मधुमेहः) मधुवन्मधुरं भूरि मूत्रं यत्र भवेद् भृशम्।
मधुमेहः स आख्यातो बहुलिङ्गो दुरायतिः ॥५८०॥
(वसामेहः) दुग्धाभं वा वसाभं वा मूत्रं सान्द्रीभवेद् यदि।
वसाणुकणिकाधिक्यात् स वसामेह उच्यते ॥५८१॥

वस्त्यादिसम्भवः। वृक्कौ नाम मूत्रनिर्माणयन्त्रे महाशिम्बीवीजाकारे कटिपार्श्वयोर्निगूढे। वस्तिः मूत्राशयः, आदिपदेन गवीन्यावपि, ते हि मूत्रवहस्रोतसी स्थूले। तेषु सम्भवतीत्यर्थः। तेषु विद्रध्यादिजन्या पूयोत्पत्तिः, विद्रधिश्च प्रायेणाश्मरीकृतव्रणशोथादिजन्यः।* तादृशपूयमेहाद् भिन्न एव आगन्तुपूयमेहः — इत्याह आगन्तुरिति। सोऽयं पूयमेहः दुष्टोपस्थसंसर्गात् शिश्नादिसंक्रान्तपूयविषजक्षतजन्यः पृथगेव प्रायः। तत्र मूत्रयतः पुरुषस्य, पुरः मूत्रणकालस्य प्रथमभागे, सरुगूरक्तं रुजादाहरक्तसमन्वितं † च किञ्चित् सान्द्रं पूयं प्रवर्त्तते। इदं नवीनावस्थालिङ्गम्। अवस्थान्तरमाह तनु वेति। अथवा तनु अघनम्। अरुक्, रुजाहीनं च पूयं प्रवर्त्तते। तदेतत् पुराणावस्थालिङ्गम्। विस्तरस्तु अग्रे वर्णनीयः ॥५७८-७९॥

अथ मधुमेहं संक्षेपेण व्याचष्टे--मधुवदिति। मधुसादृश्यं चात्र माधुर्यमात्रेण, न घनत्वेन, असम्भवात्। भूरि अतिमात्रम्, भृशं मुहुर्मुहुः। बहुलिङ्गः—वक्ष्यमाणकार्श्य-दौर्बल्य-पिपासादिलक्षणः। दुरायतिः दुःखा दुःखदा आयतिः परिणामकालो यस्य, तादृशः। ननु इक्षुमेह-शीतमेहयोरपि मूत्रमाधुर्यमुक्तं, तत् कथं न स्मरसि? —उच्यते। तौ हि वर्णितलक्षणौ सम्प्रति नोपलभ्येते। विचारविस्तरस्तु मधुमेह[१]-स्याग्रे वक्ष्यते। यत्तु "सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः मधुमेहत्वमायान्ति" इत्यादि सुश्रुतेनोक्तं, तत् सन्दिग्धार्थम्। उदकमेहस्यैव काले मधुमेहत्वसम्भवात्, अन्येषामिदानीं तादृशपरिणामाऽदर्शनात् ॥५८०॥

अथ वसामेह[२]माह—दुग्धाभमिति। सान्द्रीभवनं चात्र सपदि विलम्बेन वा दृश्यते। वसाल्पत्वे दुग्धाभं, वसाधिक्ये वसाभम्। स्वाभाविकमूत्रे तु वसा

---

* कदाचित् पुराणात्रिपमेहजन्योऽपि वृक्कादिविद्रधिर्भवति। † क्वचिन्नीरक्तमपि। १। मधुमेहः—Diabetes (डायाविटिस्): Glycosuria (Note—All glycosuria is not Diabetes).
२। वसामेहः—Lipuria,

सर्पिर्मेहस्तु तद्भेदो वसाभूयिष्ठताकृतः।
स प्रायः श्लीपदे दृष्टः सूक्ष्मक्रिमिसमाकुलः।
असृग्लेशयुतं तत्र मूत्रं प्रायेण दृश्यते॥
कदाचिन्मधुमेहेऽपि तनुस्नेहं प्रमेहति॥५८२-५८३॥

(शीधुमेहः) उत्सिक्तशीधुवद्गन्धं मूत्रं स्यात् शीधुमेहिनः।
मधुमेहे पुराणे स क्वचिद् घोरप्रमोहयुक्॥५८४॥

(भेषजमेहः) विविधैर्नील-रक्तादिभेषजैरुपसेवितैः।
तत्तत्सवर्णता मूत्रे स मेहो भेषजोद्भवः॥५८५॥

(अथ मेहेषु पूर्वरूपादि)

प्राग्रूपं नास्ति मेहानामन्यत्र मधुमेहतः।
दृश्यते चेत् क्वचित् किञ्चिद् लिङ्गमव्यक्तमेव तत्॥

नास्त्येव। वसाणुकणिकाधिक्यात — वसाया अणवः सूक्ष्माः कणिकाः, तासामाधिक्यात, सर्पिर्मेहस्तु[१] सान्द्रतमः। त्रिविधलक्षणस्य च वसामेहस्य एकैव संज्ञा पर्याप्तेति नेह पृथग् विभागः। स च प्रायः श्लैपदिकक्रिमीणां मूत्रे प्रवर्त्तनाद् दृष्टः प्रभावात्। श्लैपदिकक्रिमिवर्णनं तु श्लीपदाधिकारे करिष्यते। अन्यत्रापि कदाचिद् वसामेहः, इत्याह कदाचिदिति। अतिस्नेहोपयोगाच्च तथा प्रायः॥५८१-८३॥

अथापरं मेहभेदमाह—उत्सिक्तेति। सुरासन्धानवद् जातसन्धानो हीक्षुरसः शीधुसंज्ञः। तत्सगन्धि मूत्रञ्चेद् तर्हि शीधुमेह[२] इति संज्ञा। स च पुराणमधुमेहे दृश्यः प्रमोहादिलक्षणवान्, सम्यगनुपक्रान्तश्च स प्राणहरः॥५८४॥

अथ भेषजमेह[३]माह—विविधैरिति। सन्ति हि नील-पीतादिवर्णानि विविधानि भेषजानि—यथा नीलीरस-हरिद्रा-मञ्जिष्ठादीनि। आंग्लभेषजेषु तु बहून्यपि तादृशानि। तेषामुपयोगात् मूत्रे तादृशवर्णसंक्रमः। तदा मूत्रेऽस्वाभाविकवर्णदर्शनात् मेहसंज्ञा। तादृशमेहाश्च प्रायो द्वि-त्रि-चतुर्दिनानि तिष्ठन्ति॥५८५॥

अथ मेहानां पूर्वरूपं प्रायो न दृश्यते—इति स्वानुभवमाह—प्राग्रूपमिति। अन्यत्र मधुमेहतः। मधुमेहे तु तद् बहुशो दृश्यत एव, वक्ष्यते च तत मधुमेहाधिकारे। इतरमेहेषु यदि क्वचित् किञ्चिद् दृश्यते प्राग्रूपं तदव्यक्तं लिङ्गमेव। ननु प्राचां ग्रन्थेषु

१। Chyluria. २। Acetonuria. ३। Urinary excretion of coloured drugs.

रूपाण्युक्तानि मेहानां सम्प्राप्तिश्च पृथक् पृथक्।
मधुमेहविशेषांस्तु प्रवक्ष्यामः सविस्तरम् ॥५८६-८७॥

(अथ दोषविचारः)

मेहेषूक्तेषु विज्ञेयं दोषाधिक्यं यथाकृति।
सर्वे त्रिदोषजा मेहा इत्यर्थः सर्वसम्मतः ॥५८८॥
उदकादिषु षट्सु स्यात् बलासस्य प्रधानता।
क्षारादिषट्के पित्तस्य प्रायोऽन्यत्राऽनिलो बली ॥५८९॥

मेहानां पूर्वरूपाण्युक्तानि यथा—"शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः। भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च" इति (च० चि० ६ अ०)। "तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिल गुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम्" इति (सु० नि० ६ अ०) तत् कथमार्षमतविरुद्धमुच्यते — इति चेत्—शृणु। यत् खलु मेहानां पूर्वरूपमुक्तं चरकसुश्रुतयोस्तन्मधुमेहाभिप्रायेण, अन्यथा प्रत्यक्षविरोधो दुर्वारः। प्रत्यक्षदृष्टानुसारिणो हि नैदानिका भवितुमर्हन्ति। अत एव वाग्भटेन यत् पूर्वरूपमुक्तं तन्मूत्रमाधुर्यवर्जितमेव यथा—"दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः। दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते" इति (माधवीयनिदाने)। ग्रन्थकृता तु पञ्चाशद्वर्षव्यापिभूयोदर्शनलब्धज्ञानेन स्पष्टमेवाभिहितं—प्राग्रूपं नास्ति मेहानामिति। रूपाणीति। रूपाणि उक्तानीहैव मेहभेदवर्णनमुखेन ॥५८६-८७॥

अथ मेहानां त्रिदोषजत्वेऽपि दोषोल्वणत्वं नामोल्लेखपूर्वकं विशदीकरोति—मेहेष्विति। उक्तेषु षोड़शमेहेषु यथाकृति यथालक्षणं दोषाधिक्यं दोषोल्वणत्वं विज्ञेयम्। सर्वमेहानां त्रिदोषजत्वं तु न केवलं प्राचां किन्तु नव्यानामपि सम्मतम्। दर्शितपूर्वञ्च तदिहैव। अन्यत् स्पष्टम्। तत्र विशेषमाह—उदकादिष्विति। इहोक्तेषु उदकादिषु षट्सु मेहेषु, यथा उदक-पिष्ट-शुक्र-लाला-लसीका-सिकताख्येषु, बलासस्य कफस्य प्रधानता। क्षारादिषट्के — क्षाराम्ल-हारिद्र-रक्त-नील-पूयाख्येषु मेहेषु पित्तस्य प्रधानता। तदन्येषु मधु-शीधु-वसा-मेषजमेहेषु अनिलो वायुर्बली मुख्यः। तस्यैव प्रधानत्वमित्यर्थः। इदं सामान्याभिधानम्। विशेषाभिधानन्तु उदकमेहे सिकतामेहे च द्रष्टव्यम्। वक्ष्यते चान्यत् मधुमेहाधिकारे ॥५८८-५८९॥

(मेहोपद्रवाः)

उपद्रवानथ ब्रूमो मेहानां दोषभेदतः।
प्रायः पुराणावस्थायां ते दृश्यन्ते पृथग्विधाः ॥५६०॥
मन्दाग्निताऽरुचिः कासः प्रतिश्यायः क्वचिद्वमिः।
कफोल्वणानां मेहानां प्रायेणैत उपद्रवाः ॥५६१॥
भ्रमिर्दाहस्तृषाम्लीका भेदस्तोदश्च मेहने।
क्वचिद् ज्वरश्च मेहानां पित्ताढ्यानामुपद्रवाः ॥५६२॥
निद्रानाशस्तथा कासः श्वासः कार्श्यं वलक्षयः।
हृद्ग्रहो वमनं हिक्का वाताढ्यानामुपद्रवाः ॥५६३॥
मधुमेहे तु रक्तस्य त्रिभिर्दोषैः प्रदूषणात्।
पिड़काश्च प्रजायन्ते वक्ष्यन्ते तत्र ताः पृथक् ॥५६४॥

अथ मेहेषु प्रायोभाविनः उपद्रवानाह—उपद्रवानथेति। उपद्रवाः नाम रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्यानि विकारान्तराणि। ते च बहुशो मेहानां पुराणावस्थायां दृश्याः। तत्र कफोल्वणानामुपद्रवानाह—मन्दाग्नितेत्यादि स्पष्टम्। पित्तोल्वणानां मेहानामुपद्रवानाह—भ्रमिरिति। मेहने मूत्रणकाले शिश्ने वा। तोदः सूचीभेदवद् रुजा। वातोल्वणानां मेहानामपि उपद्रवानाह—निद्रानाश इति। हृद्ग्रहः हृदि सन्दंशगृहीतवद्रुजा। अन्यत् स्पष्टम्। मधुमेहे विशेषमाह—मधुमेहे त्विति। रक्तस्य प्रदूषणात्तत्र पिड़कोत्पत्तिः, नैवमन्यत्र प्रायः—इति भावः। चकारादन्येऽपि वातश्लेष्मजाः उपद्रवाः पूर्वोक्ताः। विशेषव्याख्यानन्तु मधुमेहाधिकारे द्रष्टव्यम्।

अत्रेदमवधेयम्। मेहेषु पूर्वरूपाणि प्राचीनतन्त्रोक्तान्यपि प्रायो न दृश्यन्ते, अन्यत्र मधुमेहादित्यवोचाम। उपद्रवास्तु नैवम्। ते हि पुराणमेहेषु भूम्ना भवन्त्येव। किञ्च, इहोक्तानुपद्रवान् विहाय अन्येऽपि केचिदुपद्रवाः दृश्यन्ते, यथा—उदकमेहे भृशं तृष्णा दौर्बल्यञ्च, शुक्र-लालामेहयोर्विबन्धः, लसीकामेहे शोथः, सिकतामेहे कटि-पृष्ठतोदः—इत्येवमादि लिङ्गानि। अन्यच्च, मधुमेहस्य उपद्रवेषु कदाचिद् वसामेह-शीधुमेहावपि भवतः—इति दिक् ॥५६०-६४॥

अथ मधुमेहनिदानम्।

(निरुक्तिः)

मधुवन्मधुरं मूत्रं यः प्रायो भूरि मेहति।
मधुमेहीति तं विद्यात् तृष्णा-दाह-क्लमान्वितम् ॥५६५॥

(निदानम्)

मधुर-स्निग्ध-भूयिष्ठ-मेदस्यान्ननिषेवणात्।
अव्यायामाद् दिवास्वप्नात् सुखशय्यातिशीलनात्।
अचिन्तनाद् वा कार्य्याणां चिन्तनाद् वा विशेषतः।
भय-शोकादिहेतोर्वा मधुमेहः प्रजायते ॥५६६-६७॥
विद्या-वित्त-यशो-मानाऽर्जनार्थं श्राम्यतां भृशम्।
भोगिनां प्रौढ़वयसि प्रमेहः स्यात् सुदुस्तरः ॥॥५६८॥

अथ मेहानां प्रधानं मधुमेहं वर्णयितुमुपक्रमते—मधुवदिति। मधुसादृश्यञ्च माधुर्यमात्रेण न गन्धवर्णादिना—इत्युक्तपूर्वम्। प्रायः, न तु कियत्कालमात्रम्। भूरि मात्रातिरिक्तं प्रचुरम्। स्वाभाविकमानन्तु मूत्रस्य किञ्चिन्न्यूनाधिकषोड़श-पलमिति स्मर्त्तव्यम्। तृष्णा-दाह-क्लमान्वितमिति प्रायोभावि-प्राथमिकलिङ्गवर्णनम्। अस्यायमभिसन्धिः। यदि तृष्णा-दाह-क्लमा न स्युः तर्हि सत्यपि मूत्रमाधुर्ये मधु-मेहोऽयं न वेति संशयितव्यम्, यतः कदाचित् सत्यपि मूत्रमाधुर्ये मधुमेहो न भवति। स प्राचामिक्षुमेहः[१]। तस्य विरलत्वाद् ग्रन्थकृता गणना न कृता ॥५६५॥

अथ मधुमेहनिदानमाह—मधुरेति। मेदस्यं मेदोवर्धनम्। अत्र अचिन्तनाद्वा कार्याणामित्यन्तं निदानं श्लेष्मवर्धनम्। चिन्तनादित्यादि निदानन्तु वातबर्धनम्। ननु श्लेष्मवर्धननिदानदर्शनात् कथं मधुमेहस्य न श्लेष्मोल्वणेषु मेहेषु गणनेति चेत्, शृणु। द्विविधो हि मधुमेहः श्लेष्मोल्बणः, अनिलोल्वणश्चेति तादृशनिदान-हेतुकत्वात्। उभयोरपि परिणामे वातोल्वणत्वमिति सामान्यतो निर्देशः ॥५६६-६७॥

अथेदानीं बहुशो दृश्यमानस्य अत्यर्थवातोल्वणस्य मधुमेहस्य विशिष्टनिदानं दर्शयति—विद्येति। विद्या—ज्ञानमर्थकरी विद्या च। वित्तं धनं वाणिज्यादिना लभ्यम्। यशः इष्टापूर्त्तादिजन्या कीर्त्तिः। मानः, पूजा—लोकपूजा, राजपूजा च।

१। इक्षुमेहः—Renal Glycosuria ; also Pentosuria.

(सम्प्राप्तिः)

भूयिष्ठमधुरं भुक्तं विपाकान्मधुरोत्तरम् ।
रसं संजनयेत् सोऽसौ रक्तमाश्रित्य सञ्चरन् ।
परिणामं न लभते सम्यग् धात्वग्निवैकृतात् ।
माधुर्यं तेन रक्तादेस्ततो मधुरमूत्रता ॥५९९-६००॥

तेषामर्जनार्थं भृशमतिमात्रं श्राम्यताम्, शरीररक्षामुपेक्ष्य शारीर-मानसश्रमं कुर्वताम् । प्रौढ़वयसि त्रिंशदूर्ध्ववयसि । भोगिनां व्यायामादिवर्जनेन सुखशय्यासन-गुरुमधुराहारादिभोगवताम् । सुदुस्तरः दुरारोग्यः । प्रमेहः मधुमेहः । ईदृशप्रमेहश्च धनिजन-धर्माधिकरणादिषु विशेषेण दृश्यते, तेषां निश्चलप्रायत्वात् ॥५९८॥

अथ मधुमेहस्य सम्प्राप्तिं वक्तुमुपक्रमते—भूयिष्ठमधुरमिति । भूयिष्ठं मधुरं यस्मिन्, तादृशं भुक्तम् । अत्र मधुरपदेन न केवलमिक्षुविकारादि, किन्तु शालि-षष्टिकगोधूमान्न-दुग्धाद्यपि बोध्यम्, तेषामपि मधुरपरिणामित्वात् । विपाकान्मधुरोत्तरं मधुरप्रधानं रसमाहारसारभूतं संजनयेत्, यतो मधुरस्य मधुर एव विपाकः ।* विपाकलक्षणन्तु "जाठरेणाग्निना पाकाद् यदुदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ।" (च० सू० २६ अ०) । अत्र रसानां परिणामान्ते—इत्यनेन पच्यमानाशये (ग्रहण्यादौ), यकृति च विविधाहाररसानां परिणामो लक्ष्यते, जाठराग्नेः समग्रोदर्यपाचकयन्त्रव्यापित्वात् । सोऽसौ रसाख्यः आहार-सारः रक्तमाश्रित्य सिरारक्तेन मिश्रीभूय सञ्चरन्, आदौ यकृदन्तस्ततो हृदयद्वारेण सर्वत्र शरीरे मांसादिधातुषु धमनीभिः प्रसर्पन्—धात्वग्निवैकृताद् मांसादिधात्वग्नीनां विकृतीभावाद्धेतोः, सम्यक् परिणामं न लभते, यथार्हं धातुदहन-निर्माणकार्यार्थं न कल्पते । तेन हेतुना रक्तादेः रक्तमांसादिधातूनां माधुर्यविशेषः । ततश्च मूत्र-माधुर्यमिति संक्षेपतो निर्देशः † । धात्वग्निस्वरूपन्तु इहैव पञ्चमाध्यायमुखे वर्णितं

---

* यथोक्तं चरके "कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः । अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुः मधुरं लवणस्तथा" । † विस्तरतस्तु—आमाशये पच्यमानाशये च विपाकादुद्भूत आहारसारभूतो रसो रसाङ्कुरिकाभिराकृष्टः, आदौ प्रतीहारिमहासिरया यकृत् प्रविशति, तत्र शोधितः परिणतश्च भूत्वा याकृतसिराभिरधरां महासिरां नीयते, ततश्च हृदयस्य दक्षिणभागम्, हृदयाच्च फौस्फुसरक्तसंवहनेन शुद्धवायुना संशोधितः पुनर्हृदयं गत्वा धमनीराख्य सर्वान् धातून् प्रसर्पति तर्पयति च । अथाहारस्य यः स्नेहभागः, स चान्त्रेभ्यो रसायनीजालिकाभिराकृष्टः पयस्विनीसंज्ञासु रसायनीषु सञ्चरन् अन्त्रमूलिकाख्यरसग्रन्थिभिर्मध्येपथं विशोधितः क्रमाद् रसप्रपां प्रविशति, ततश्चान्ते गलमूलिकां सिराम् ततश्च हृदयमिति वर्णितं प्रत्यक्षशारीरस्य आशयखण्डे (अन्त्रवर्णने) ।

अथ धात्वग्निविकृतिर्यथा स्यात् तत् प्रवर्ण्यते।
अग्न्याशयोद्गतः सूक्ष्मो रसोऽन्तःस्रवणस्तु यः।
रसस्य परिणामाय मधुरस्य प्रभाववान्।
स रक्ते सञ्चरन् नित्यं धात्वग्नेर्बलमावहेत्॥
यदा त्वग्न्याशयांशस्य विकृतेः स प्रहीयते।
तदा स्याद् रक्तमाधुर्यं मूत्रमाधुर्यमेव च॥६०१-३॥
अथ स्वभावाद् यकृतो या शक्तिः परिणामकृत्।
मधुराणां विशेषेण सञ्चयाय व्ययाय च।

विस्तरेण। द्विविधभुक्तरससंवहनञ्च तत्रैव प्रत्यक्षशारीरे च। तेन याकृतरससंवहनादिविशेषाः नेह मूले वर्णिताः—इति न्यूनता न शङ्कनीया।॥५९९-६००॥

अथ धात्वग्निविकृतिं वर्णयति—अथेति। धात्वग्नयो हि सप्तसु धातुषु सप्तेति पञ्चमाध्याये विशदीकृतं प्राचीनमतसंवादेन, तत्र विशेषमाह अग्न्याशयसम्पर्कतः। द्विविधो हि अग्न्याशयसम्भवो निःस्रवः—स्थूलः सूक्ष्मश्चेति[1]। तत्र स्थूलः आग्नेयरसस्राविनलिकया ग्रहण्यन्तः स्रवतीति—उक्तचरमिहैव जाठराग्निवर्णनप्रसंगे प्रत्यक्षशारीरे च। अन्तःस्रवस्तु सूक्ष्मः, स तावदग्न्याशयान्तर्गतेभ्यः अग्निद्वीपेभ्यो[2] निःसृतो रक्तेन सह मिश्रीभूय सर्वत्र शरीरे सञ्चरति, विशेषतस्तु रक्तमांसयोः। तत्प्रभावाच्च रक्तसञ्चारिमधुररसस्य दहनं तत्तदंशेन धातुनिर्माणं च त्वङ्मांसयोर्विशेषादिति परीक्षासिद्धम्। तेन रक्तमांसयोर्माधुर्यं स्वभावान्नातिरिच्यते। माधुर्यपरिणामस्य सहायकस्तु व्यायाम एव॥६०१-६०३॥

अग्न्याशयोत्थसूक्ष्मनिःस्रवस्य मधुरपरिणमनप्रभावमुक्त्वाऽधुना यकृतस्तादृशं प्रभावं वर्णयति—अथेति। यकृतः यकृदाख्ययन्त्रस्य (उदरगुहायामूर्ध्वं दक्षिणभागे स्थितस्य) याऽन्नरसस्य परिणामकृत् शक्तिः, साऽप्यत्र मधुमेहे हीयते स्वल्पीभवतीति परेणान्वयः। सा च शक्तिर्यद्यपि न केवलं मधुरस्य किन्तु मांसान्नादिविपाकसमुत्थरसस्यापि परिणामकरी, तथापि तस्य मधुरपरिणामकरत्वं तत्सञ्चयित्वं तद्व्ययनशीलत्वं चेहालोचनीयम्। मधुरस्य हि भूयानंशो मधुरकाख्यवस्तुनि विपरिणतः

१। अग्न्याशयस्योभयविधनिःस्रवविवरणं प्रत्यक्षशारीरस्य चतुर्थावृत्तौ प्रतिपादितं तदाशयखण्डसमाप्तौ द्रष्टव्यम्। तस्य "इन्सूलीन"—(Insulin) इति संज्ञा। पशूनामग्न्याशयान्निष्काषितस्य च त्वाचप्रयोगो मधुमेहिनां हितकरः। २। अग्निद्वीपाः—Islets of Langerhans.

साऽप्यत्र हीयते कालेऽव्यायामाद् भूरिभोजनात् ।
तेनापि रक्तमाधुर्यं विशेषाद् भवति ध्रुवम् ॥६०४-५॥
इति नव्यमतं प्रोक्तं प्रत्यक्षज्ञानमूलकम् ।
परीक्षाशतसिद्धं च, प्राञ्चस्त्वेवं प्रचक्षते ॥६०६॥
त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।
श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसश्चाति प्रबर्धते ।
तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्त्तते ॥

तत्र सञ्चीयते । काले काले च लङ्घनादौ तत्प्रयोजने सति सिरारक्तस्रोतसि समर्पितस्य तस्य शनैः शनैर्व्ययश्च भवति, हृत्पेश्यादिपोषणार्थम् । अत एवोक्तं—सञ्चयाय व्ययाय चेति । तस्याश्च शक्तेः, परिणमन-सञ्चयन-व्ययनशील-प्रभावस्य यदा हीनता भवति, तदा मधुररसप्रचुरं रक्तं प्रायेणाऽपरिणतमेव रक्त-स्रोतसा नीयते, तेनापि रक्तस्य विशेषान्मधुरीभावः, ततश्च मूत्रमाधुर्यम् *। द्रष्टव्यानि चेह प्रसङ्गात् प्रत्यक्षशारीरे वर्णितानि यकृत्कार्याणि ॥६०४-६०५॥

अथ पूर्वोक्तमुपसंहरति—इति नव्यमतमिति । प्रत्यक्षज्ञानं स्थूलसूक्ष्मशारीर-वस्तु-क्रियाज्ञानं, तत् मूलं यस्येति । परीक्षाशतसिद्धम्—पशु-मानुषशरीरेषु परीक्षा-शतैः सिद्धं निपुणैः परीक्षकैः सुप्रमाणितमतो ग्रहणयोग्यमिति भावः । प्राञ्चश्चरका-दयस्तु एवं वक्ष्यमाणं दोष-दूष्यविचारलब्धसिद्धान्तं प्रचक्षते वर्णयन्ति ॥६०६॥

अथ प्राचीनमतं दर्शयति चरकीयश्लोकैः—त्यक्तेति । संशोधनं वमन-विरेचनादि, तद्धि काले काले कर्त्तव्यमिति प्राचामुपदेशः । श्लेष्मादिचतुष्टयं युगपत् प्रबर्धते इति सूचयितुं क्रियाया एकवचनान्तत्वम् । मेदोमांसबृद्धिश्च प्रायेण मधुमेहं भाविनं सूचयतीति भावः । तैः श्लेष्मादिभिश्चतुर्भिः, आवृतगतिः व्याहतक्रियो वायुः, ओजः ओजःसदृशं शरीरप्रसादं मधुरवस्तुविशेषमादाय गृहीत्वा यदा बस्तिं गच्छति, वृक्काभ्यां निर्गतमिति शेषः । तदा कृच्छ्रः कष्टसाध्यः मधुमेहः प्रवर्त्तते । ओजःपदञ्चेह लक्षणया तत्सदृशं शरीरसारं बोधयति, न तु रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तद्, असम्भवात । तद्धि "ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं

---

* मूत्रमाधुर्यं स्वस्थजनस्य नास्ति सामान्यपरीक्षयेयम् । रक्तमाधुर्यन्तु—स्तोकेनाऽस्ति । तत्-परिमाणं—100 or 110 mgm. in 100 C.C. of blood. प्रवृद्धं तत्तु द्वित्रगुणं चतुर्गुणं वा दृश्यते ।

स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः ॥६०७-६॥

(मधुमेहभेदाः, लिङ्गानि च)

नवीनश्च पुराणश्च मधुमेहो द्विधा मतः।
भूयश्च द्विविधः प्रोक्तः स्थूलस्य च कृशस्य च।
स्थूलस्य मधुमेहस्तु प्रौढ़स्य वलिनो भवेत्।
त्रिंशदूर्ध्ववयस्कस्य चिरकारी स दृश्यते॥
कृशस्य तु ततः पूर्वं वालस्य तरुणस्य च।
दृश्यते दुर्बलस्यैव शीघ्रकारी स कष्टदः ॥६१०-१२॥
तृष्णा तीव्रा त्वचो रौक्ष्यं क्लमो दौर्बल्यमेव च।
विड्बन्धः कृशता बृद्धिर्मधुरप्राज्यमूत्रता।

शीतं स्थिरं सरम्। विविक्तं मृदु मृतस्नं च प्राणायतनमुत्तमम्। देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनः। तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्"—इत्यादि-वंचनैः सुश्रुतेन वर्णितम्। तच्चाऽष्टविन्दुरूपं हृदयस्थमाहुः। तस्य मूत्रेण सह निर्गमे द्वित्रैरेव दिनैर्म्रियेत रोगी। तस्मादोजःसदृशमित्यर्थे ओजःशव्दस्येह प्रयोगः। बस्ति-पदश्चात्र बृक्कवस्त्योरुपलक्षणम्। तथा चाऽसौ मधुमेहः वायोरावृतत्वाद् दोषत्रय-स्यापि लिङ्गानि पर्य्यायेण साङ्कर्य्येण वा दर्शयति, न केवलं वायोरिति पुनः स्पष्टी-कर्त्तुमाह—स मारुतस्येति। स मधुमेहः। आकृतिं लक्षणं दर्शयति रोगिशरीरे—इति शेषः। क्षयं गत्वा किञ्चित् क्षीणवलो भूत्वा। पुनराप्याय्यते पूर्णवलो भवतीति प्राचां सिद्धान्तः (च० सूत्र० १७ अ०) ॥६०७-६०६॥

अथ मधुमेहभेदानाह—नवीनश्चेति। तत्राद्यो भेदः—नवीनश्च पुराणश्चेति। द्वितीयो भेदः—स्थूलस्य कृशस्य चेति। तत्र प्रायिकं वयोऽवस्थाविशेषमाह—स्थूलस्येति। प्रौढ़स्येत्यभिधाय त्रिंशदूर्ध्ववयस्कस्येति पुनर्निर्देशः स्पष्टार्थम्। चिरकारी, चिरात् शनैः प्राणहारी। कृशस्येति। ततः पूर्वं—त्रिंशतः प्राक्। वालस्य—ऊनषोड़शवर्षीयस्य। तरुणस्य किशोरवयसः कदाचिद् यूनोऽपि। शीघ्रकारी द्रुतं शरीरक्षयकरः। कष्टदः बहूपद्रवत्वादिति शेषः ॥६१०-१२॥

मधुमेहस्य सामान्यलिङ्गान्याचष्टे—तृष्णेति। मधुरप्राज्यमूत्रता मधुर-मूत्रता भूरिमूत्रता च। जिह्वादिषु—जिह्वामुखदन्तादिषु, यावन्नासानेत्रकर्णेषु च।

जिह्वादिषु मलाधिक्यं दाहश्च करपादयोः।
मधुमेहस्य लिङ्गानि भस्मकाग्निश्च कुत्रचित् ॥६१३-१४॥
मेदस्विनस्तु तान्यादौ सन्ति गूढ़ानि भूयसा।
तस्य व्यायामहीनत्वे प्रादुःषन्ति शनैः शनैः।
पिपासा-कृशतावृद्धौ पिड़काद्युद्गमेऽथवा।
विज्ञाते मूत्रमाधुर्ये स प्रायः प्रतिबुध्यते॥
कृशस्य मधुमेहे तु प्रचुर-स्वादुमूत्रता।
तृष्णा-दौर्बल्य-कार्श्यानां वृद्धिरत्यग्निता तथा ॥६१५-१७॥

(अथ मधुमेहोपद्रवाः)

मधुमेहोपेक्षया च काले काले भवन्त्यमी।
उपद्रवाः कृच्छ्रसाध्याः केचित् प्राणान्तका अपि॥
कासः श्वासो ज्वरो मन्दः शीघ्रकारी क्षयस्तथा।
पिडका मांसकोथश्च प्रमोहो वा कदाचन॥

भस्मकाग्निः अत्यग्निता। भस्मकाग्निलक्षणन्तु[1] यथा "अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्नि-र्भुक्तं क्षणाद् भस्म करोति यस्मात। तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून्" इति। सोऽयं बहुधा मधुमेहे दृश्यते लक्षणभूतः ॥६१३-६१४॥

मेदस्विनो विशेषमाह—मेदस्विन इति। भूयसा प्रायेण, गूढानि प्रच्छन्नानि तिष्ठन्ति। तस्य च मेदस्विनो व्यायामहीनत्वे व्यायामवर्जने सति। प्रादुःषन्ति प्रादुर्भवन्ति। तर्हि कदाऽसौ जानातीत्याह—पिपासेति। यदा हि पिपासा कृशता च बर्धेते तदा। अथवा पिड़कायाः प्रमेहपिड़कायाः यदा उद्गमस्तदा वैद्योपदेशाद् मूत्रपरीक्षया माधुर्ये विज्ञाते आविष्कृते स रोगी प्रतिबुध्यते, मधुमेहो मे जात इति सुप्तोत्थित इव जानाति। कृशस्येति। तृष्णादीनामतिवृद्धिश्चेह विशिष्टलक्षणम्। अत्यग्निता तीव्रा वुभुक्षा जरणशक्तिश्च जठरे न तु धातुषु। इति ॥६१५-१७॥

अथ मधुमेहोपद्रवानाह—मधुमेहोपेक्षयेति। सत्यपि मधुमेहे तदज्ञानाद्वा, ज्ञातेऽपि तस्मिन् तदुपेक्षणाद् वा मधुमेहे प्रकामभोजनशीलस्य अमी वक्ष्यमाणाः उपद्रवा भवन्ति। ते कष्टसाध्याः, केचित् प्राणहराश्च। कास इति। मन्दज्वरः—

१। भस्मकाग्निः—Bulimia.

शाखागतासु नाड़ीषु क्वचित्तीव्ररुजोद्गमः।
क्लैव्यं च प्रायशः काले तस्य धातुक्षयाद् भवेत्॥
दृष्टिनाड़ीवितानस्य प्रशोथाच्छोषतोऽथवा।
तदन्तर्वाऽसृजः स्रावाद् दृष्टिदोषोऽन्धताऽपि च।६१८-२१।
अथास्य वृक्करोगश्च यकृद्रोगश्च कुत्रचित्।
हृत्पेशीदुर्बलत्वं च तीव्रं शोथोदरादिकृत्॥६२२॥
रक्तेऽतिमधुरीभूते त्वङ्-मेदो-मांसदूषणात्।
महत्यः पिडकास्तस्य काले काले भवन्ति च॥६२३॥

क्वचित् श्वसनकादीनामुत्पत्तौ तीव्रज्वरोऽपि। क्षयोऽत्र राजयक्ष्मा, स चात्र प्रायेण शीघ्रकारी वर्षार्द्धेन वर्षेण वा प्राणहरः, कदाचिन्मन्दगोऽपि स वर्षैर्मारको भवति वृद्धानाम्। प्रमोहस्तु इहैवानुपदं व्याख्यास्यते। मूत्रद्वार इति। पुराणमधुमेहेषु कण्ड्वादिलक्षणानि भवन्ति नाड़ीशूलाश्च। यत्तु प्रायशोभावि क्लैव्यं तद् मधुमेहिनां प्रचुरवीर्यक्षयाद् धातुनिर्माणाल्पत्वात् प्रहर्षाभावाच्च भवति। काले सम्यक् चिकित्सया तदपयाति प्रायेण। अथ मधुमेहे वहुशोभाविनो दृष्टिरोगानाह—दृष्टिनाड़ीति। दृष्टिनाडीवितानः[1], दृष्टिनाड्याः विस्ताररूपो रूपग्राहकोऽंशः। स प्रत्यक्षशारीरस्य इन्द्रियखण्डे सम्यग् वर्णितः। प्रशोथः[2] प्रकृष्टशोथः व्रणशोथरूपः। दृष्टिनाड़ीशोषः[3] तच्छुष्कता क्रमशः, तेन रूपग्रहणशक्तेर्विलोपः। तदन्तः दृष्टिनाडीवितानस्यान्तः, असृजो रक्तस्य स्रावात्[4], धमनीजालकस्य क्वचित् क्वचित् त्रुटनाद्धि तत्र विन्दुशो रक्तस्रावः। दृष्टिदोषः, क्षीनदृष्टिता। अन्धता दृष्टिलोपः। तस्याः कारणं क्वचित् पूर्वोक्तहेतुत्रयं क्वचित् लिङ्गनाशो[5] वा॥६१८-६२१॥

अथ मधुमेहस्यापरे उपद्रवा वृक्करोगकृताः शोथादयः, यकृद्रोगकृताः कामलादयश्च सम्भवन्तीत्याह—अथास्येति। हृत्पेशीदुर्बलत्वं—हृत्यन्त्रस्य स्वाभाविकसङ्कोच-प्रसारकृत-रक्तग्रहण-प्रेरणक्रियाया हीनवलत्वम्। शोथोदरादिकृदिति विशेषणं प्रत्येकं संवध्यते, यतो वृक्करोगाद् यकृद्रोगाद् हृत्पेशीदुर्बलत्वाच्च व्यस्तात् समस्ताद्वा शोथादिसम्भवः। अथ पिड़कोत्पत्तिमूलमाह—रक्ते इति। रक्ते

१। Retina. २। Optic Neuritis. ३। Optic Atrophy. ४। Retinal hæmorrage. ५। Cataract.

(अथ मधुमेहजः प्रमोहः)

आयतौ मधुमेहस्य भूरिस्नेहनिषेविणः ।
प्रमोहो जायते क्वापि कश्चित् तस्मात् प्रमुच्यते ॥
मूत्रद्वारेऽथवा पायौ योनिद्वारेऽन्यतोऽपि वा ।
कण्डूः स्त्वचो विदरणं भवेत् क्वाऽपि विचर्चिका ।
भविष्यति प्रमोहे तु प्रायशो मधुमेहिनः ।
दारुणं शिरसः शूलमस्थैर्यं शुष्कजिह्वता ।
श्वासानिलस्पृहा तीव्रा श्वासकष्टं च दारुणम् ।
शीताङ्गता तथा मूत्रे श्वासे चाऽऽसवगन्धिता ॥
अथ संज्ञाविलोपात् स शेते निपतितः श्वसन् ।
मुमुक्षुरचिरात् प्राणान् न चेत् सम्यगुपक्रमः ।६२४-२८।

(मांसकोथः) अभिघातात् क्षताद्वापि दुष्टजीवाणुदूषितात् ।
पादादौ मांसकोथः स्यात् स प्रसर्पन् हरत्यसून् ॥६२६॥

पूर्वोक्तकारणैरतिमधुरीभूते त्वङ्मेदोमांसदूषणात, त्वचो मेदसो मांसस्य च दूषणाद् विकृतीभावात। दोषैर्जीवाणुभिश्चेति शेषः ॥६२२-६२३॥

मधुमेहोपद्रवेषु घोरं चरमोपद्रवं प्रमोहाख्यं[१] वर्णयति चतुर्भिः श्लोकैः— आयताविति। आयतौ उत्तरकाले। भूरिस्नेहनिषेविणः इति प्रमोहस्य कारणविशेष उच्यते। अन्यत स्पष्टम्। भविष्यतीति—आनुपूर्व्या लक्षणोद्भवक्रमस्य वर्णनम्। अस्थैर्यं मनःशरीरयोः व्याकुलता। श्वासवायोः तीव्रा स्पृहा श्वासवायु र्न लभ्यते इत्येवमनुभवः सत्यपि प्रवाते इति भावः। श्वासकष्टन्तु कृच्छ्रश्वासः। मूत्रे श्वासे च आसवगन्धिता उत्सिक्तेक्षुरसादिवद्गन्धः, सोऽयं शीधुमेह इति व्याख्यातपूर्वः। प्रमोहस्य मारकलक्षणमाह—अथेति। न चेत् सम्यगुपक्रमः—सम्यक्चिकित्साऽभावे इत्यर्थः। सम्यक्चिकित्सा चात्र त्वक्पथेन इन्सुलीनादिप्रयोगः[२]। इति ॥६२४-२८॥

अथापरमपि मारकोपद्रवं मांसकोथं नाम वर्णयति — अभिघातादिति। अभिघातात—कण्टकवेध-नखच्छेदादिनिमित्तात। दुष्टजीवाणवः, पूयकोथादिकराः

१। प्रमोहः—Diabetic Coma. २। Insulin injection.

(अथ पिड़काः, तद्भेदाश्च)

ग्रीवांऽसपृष्ठे पृष्ठे वा मांसलेषु च धामसु।
दृश्यन्ते पिड़का घोराः पुराणमधुमेहिनाम् ॥
उत्सेधः कठिनस्तीव्रौ रुग्दाहौ च ज्वरस्तथा।
चिरात् पाकश्च वीसर्पो लिङ्गानि पिडकोद्भवे ॥
महत्यः सर्बलिङ्गाः स्युः स्वल्पास्ताः स्वल्पलक्षणाः।
महत्यः प्राणघातिन्यो न चेत् सम्यगुपक्रमः ॥
शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
विदारी विद्रधी चेति महत्यः सप्त ता मताः ॥
कुलत्थिकाद्याः क्षुद्राः स्युर्गात्रेषु श्यामचिह्नदाः।
शराविकादेर्लिङ्गानि वर्ण्यन्तेऽथ समासतः ॥६३०-३४॥

सूक्ष्मजन्तवः[१], तैर्दूषणात्। मांसकोथः त्वगादिसहितमांसस्य दुर्गन्धिगलित-भावः। पादादाविति निर्देशात् चरणे एव विशेषेण भवति, कदाचित् करेऽपीति बोध्यम्। स च कोथः[२] प्रवृद्धः सन् वीसर्पी प्रसर्पणशीलश्चेत् तर्हि प्राणघाती भवति, काले जङ्घादिच्छेदात्तु कदाचिज्जीवति रोगी। स च शल्यतान्त्रिकानामेव विषयः। काले दशाङ्गलेपाद्यगदभेषज प्रयोगादपि स क्वचिदारोग्यं लभते। स च उपक्रमः सति तद्देशीये धमनीस्पन्दे करणीयः, नान्यत्रेति स्मर्त्तव्यम् ॥६२९॥

मधुमेहस्य पिड़काख्यमुपद्रवमाह—ग्रीवांसेति। ग्रीवांसपृष्ठे ग्रीवायाः अंसस्य च पृष्ठे। मांसलेषु धामसु ऊरुनितस्वपिण्डिकादिषु। उत्सेध उन्नतत्वम्। वीसर्पः समन्तत एकतो वा प्रसर्पणम्। तानि च महतीषु पिड़कासु महासंरम्भानि, स्वल्पसंरम्भानि त्वन्यत्रेति विशेषः। किञ्च रक्तमाधुर्याधिक्ये रुजाविसर्पयोरपि आधिक्यमिति विशेषज्ञाः। महत्य इति। तासां पिड़कानां मध्ये महत्यः[३] महा-प्रमाणाः महासंरम्भाश्च। सम्यक् चिकित्सितास्ता नासाध्या इति भावः। शराविकेति। ता एता महत्यः महाप्रमाणाः वक्ष्यमाणलिंगैर्ज्ञेयाः। क्षुद्रास्तु कुलत्थिकाद्याः गात्रेषु श्यामचिह्नदाः, यत्र तत्र कृष्णकिणचिह्नप्रदाः ॥६३०-६३४॥

१। Strepto and Staphylococci. २। कोथः—Gangrene. ३। पिड़कानां भेदा वैद्यके यथा पृथङ्नामलक्षणैर्वर्णिताः न तथाऽद्यापि पाश्चात्यशल्यतन्त्रे इति तात्कालिकोत्कर्षो बुधैर्लक्षणीयः।

(पिड़कालक्षणानि)

प्रान्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा क्लेदरुगन्विता।
शराविकाख्या पिड़का समुत्तानशराववत् ॥६३५॥
अवगाढ़ाऽर्त्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा।
श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिड़का कच्छपी मता ॥६३६॥
मांसजालावृतेवाऽन्तः स्वल्पस्रावा महाशया।
दाह-निस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा तु जालिनी ॥६३७॥
अवगाढ़रुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा।
महती पिड़काऽनीला विनता नाम कीर्त्तिता ॥६३८॥
रक्ताऽसितस्फोटचिता दग्धवर्णत्वगावृता।
तृष्णा-दाह-ज्वरवती त्वलजी स्याद्विसर्पिणी ॥६३९॥
विदारीकन्दवद्वृत्ता चिरपाका विदारिका।
कक्षा-वंक्षणयोः प्रायः क्वचिद्वाऽन्यत्र दृश्यते ॥६४०॥

अथ प्रमेहपिड़कानां[१] लक्षणानि पृथग् विशदयति—प्रान्तोन्नतेत्यादि। तत्र शराविका—विरलदर्शनाऽपि महायतनत्वात् प्रथममुक्ता, दृष्टा च सा प्रायशः पृष्ठे, लोके पृष्ठव्रण इति प्रसिद्धा। प्रान्तोन्नता, परिधिसीमासूत्सेधवती। मध्यनिम्ना—मध्येगभीरा, अत एवोक्तमुत्तानशराववत्। अथ कच्छपी—सेयं भोजस्य कूर्मिका नाम। अवगाढेति—गम्भीरा। आर्त्तिः निरन्तररुजा, निस्तोदः शतसूचीवेधवद्-व्यथा च यस्याः सा। महावास्तुपरिग्रहा, महान्तं स्थानं व्याप्य विस्तृता। अथ जालिनी — सेयं त्वगपगमे सति अन्तर्मांसजालेनावृतेव, अत एवास्याः जालिनीति संज्ञा। महाशया, गभीरान्तःकोटरा, कोथ-पिण्डापगमे इति शेषः। अथ विनता—काले विनतोदरत्वाद् विनतेति संज्ञा, अत्र प्रान्तोन्नतत्वं नास्तीति शराविकातो भेदः। अथ अलजी—सेयं विसर्पिणी वीसर्पवती, प्रान्तेष्वेकतो वा। अथ विदारिका — विदारीकन्दः भूमिकुष्माण्डः, स यथा स्थूलविषमवृत्तप्रायः,

---

१। प्रमेहपिड़काः—Curbuncles & deep Abscesses. क्वचित् पिड़काशब्दः सामान्यार्थेऽपि प्रयुज्यते क्षुद्रव्रणार्थे च। क्षुद्रपिड़कानां तु आंग्लभाषानामानि—Furruncles, Pimples etc.

अवगाढ़ाऽस्थिपर्यन्तं प्रायेणोरुनितम्बगा।
स्तने वा विद्रधिर्बाह्याऽन्तरी त्वाशयसंश्रिता ॥६४१॥
अन्याश्च पिडकाः सन्ति नानावर्णरुजाभिधाः।
वाच्यास्ता मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ॥६४२॥

पिड़केयं तद्वदाकारा। कक्षावंक्षणयोरितिनिर्देशात् तत्तत्प्रदेशस्थलसीकाग्रन्थ्याश्रयित्वमुक्तम्। चिरपाकित्वाच्चात्र स्फुटं श्लेष्मोल्वणत्वम्। क्वचिद्वाऽन्यत्रेत्यभिधानाद् ग्रीवा-कर्णमूलादावपि गण्डमालावदेषा पिड़का भवतीत्युन्नेयम्। अथ विद्रधी[1] (विद्रधिर्वा)—अस्थिपर्यन्तम्, अस्थिपृष्ठावधि अवगाढ़ा गभीरप्रसृता, न तु अस्थ्यन्तःप्रविष्टा प्रायशः। प्रायेणोरुनितम्बगा, ऊरोः पुरोभागे नितम्बस्य च पश्चिमभागे स्तने वा भूम्ना दृश्या। सैषा बहिर्विद्रधी नाम। आन्तरी विद्रधिस्तु गम्भीरा आशयमन्यतमं यकृत-फुस्फुसादिकं संश्रिता ॥६३५-६४१॥

अथ महतीनां प्रसिद्धपिड़कानां नामलक्षणनिर्देशानन्तरमनुक्तपिड़कानां स्वरूपाणि विवृणोति चरकीयवचनानुवादेन—अन्याश्चेति। नानावर्णरुजाभिधाः नानाविधवर्णाः नानाविधरुजाः नानाविधसंज्ञाश्च यासां ताः, यथा चरके—"रक्तपीतासितारुणाः। पाण्डुराः पाण्डुराभाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः। मृद्वश्च कठिनाश्चान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाऽपराः। मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशूला महारुजः।" —इति (चरक० सू० १७ अ०)। ताश्च मारुतादीनां वातपित्तकफरक्तानां यथास्वैः यथायथैः हेतुभिर्लक्षणैश्च वाच्याः। हेतवः प्रसिद्धाः, तत्र वातिकादीनां लिङ्गानि त्वेवं भवन्ति—"स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः। तुद्यते स्फुरति स्रावो व्रणो मारुतसम्भवः॥ तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः॥ बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः॥ रक्तो रक्तस्रुती रक्ताद् द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः॥ इति।" व्रणपाककाले तु त्रयाणामपि दोषाणां प्रभावः, यदुक्तं—"नर्तेऽनिलाद्रुङ् न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः। तस्माद्धि सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथास्त्रिभिरेव दोषैः"॥ विस्तरस्तु सुश्रुतादौ द्रष्टव्यः। अथैतासु विविधरूपासु पिड़कासु क्षुद्राः सर्षपिका-कुलत्थिका-मसूरिकाद्याः स्वनामन्याख्याताः। तत्र चरकमते—"सर्षपी नातिमहती सर्षपाभैः पिड़काभिराचिता।" सुश्रुते तु—"गौर-

१। Deep Abscess (External or Internal). विद्रधिर्विद्रधी चेति द्वयमपि रूपं साधु। "कृदिकारादक्तिनः" इति सूत्रेण यथा—भूमिर्भूमी चेति। विद्रधिविवरणविस्तरस्तु शल्यतन्त्रे द्रष्टव्यः।

मधुमेहादृतेऽप्येतास्त्वङ्मेदोमांसवैकृतात् ।
जायन्ते पिडका भूम्ना दोषागन्तुकहेतुकाः ॥६४३॥
तृट्-श्वास-मांससङ्कोथ-मोह-हिक्का-मद-ज्वराः ।
वीसर्प-मर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥६४४॥

अथ आगन्तुपूयमेहनिदानम् ।

(निरुक्तिः, पूयं रक्तं मूत्रणादावभीक्ष्णं
इतिवृत्तञ्च) सरुग्दाहं शूनशिश्नः स्रवेच्चेत् ।
तदाऽगन्तुः पूयमेहोऽस्य नूत्नः
पुराणेऽस्मिन् मूत्रशेषेऽणु पूयम् ॥६४५॥

सर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी"। पुत्रिणी तु महत्येव पिड़का तत् पुत्रवत् कतिचिद्विस्फोटैः सहिता सुश्रुतोक्ता। साऽन्यासां लक्षणरूपेति पृथक् न लिखिता ॥६४२॥

ननु मधुमेहादृतेऽपि बहुशः पिड़का दृश्यन्ते इत्याह—मधुमेहादिति। भूम्ना प्राचुर्येण। दोषागन्तुकहेतुकाः दोषहेतुकाः आगन्तुहेतुकाश्च। आगन्तुहेतवश्च अभिघाताद्याः, विषजीवाणुसंक्रमजाश्च ॥६४३॥

अथ पिड़कोपद्रवानाह—तृड़िति। मांससंकोथः मांसस्य पूति-कुथितभावः। अत्र मांसपदमुपलक्षणं, त्वगादीनामपि तदन्तर्भावात्। वीसर्पः सर्वतः परिसर्पणम्। मर्मसंरोधः, मर्मदेशानामाक्रमणम् ॥६४४॥

अथ मेहनिदाने पूयमेहं संक्षेपेण निर्दिश्य तद्भेदमागन्तुपूयमेहं विशेषप्रतिपत्त्यर्थं व्याख्यातुकामो निरुक्तिमुखेनाह—पूयं रक्तमिति। स च द्विविधः, नूतनः पुरातनश्चेति। तत्र नूतनस्य संक्षिप्तलक्षणं—पूयं रक्तमित्यादि। यदि मूत्रणादौ मूत्रणारम्भे। अभीक्ष्णं मुहुर्मुहुः। शूनशिश्नरोगी शिश्नान्तर्व्रणशोथपूर्वक-क्षतसम्भवात्। पूयं रक्तं सरक्तं पूयं स्रवेत्, तदा नूत्नो नवीनोऽस्य रोगिणः आगन्तुपूयमेहो[1] जातः। पुराण इति। अस्मिन्नागन्तुमेहे पुराणे सति मूत्रशेषे, न तु मूत्रणादौ, अणुमात्रं पूयं सूक्ष्मसूत्राकारं तूलखण्डाकारं वा निःस्रवेदिति शेषः ॥६४५॥

१। आगन्तुपूयमेहः—Gonorrhœa (गनोरिया)।

पूर्वं वर्षचतुःशत्या म्लेच्छस्त्रीपुंससङ्गमात्।
सम्प्राप्तो दुष्टरोगोऽयं प्रसृतो भारतेऽधुना ॥६४६॥

(निदानं सम्प्राप्तिश्च)

विशिष्टविषजीवाणुर्युग्मविन्दूपलक्षितः।
योनौ मूत्रप्रसेके वा क्षतं कृत्वाऽवतिष्ठते।
तस्मात् क्षरति यः पूयो मैथुने तस्य संक्रमात्।
अष्टाहात् स्यादुपस्थान्तः पूयासृक्स्रवणो व्रणः।६४७-४८।
आगन्तावपि रोगेऽस्मिन् पित्तं वातश्च कुप्यतः।
पूयाधिक्ये कफश्चापि रक्तं रक्तस्रवेऽधिके ॥६४९॥
पुंसो मूत्रप्रसेकस्य पूर्वांशाग्रे क्षतोद्भवः।
नवीने पूयमेहे स्याद् मध्यांशे तु पुरातने ॥६५०॥

नन्वेष रोगः प्राचां ग्रन्थेषु कथं न वर्णित इत्याशङ्कायामुच्यते—पूर्वमिति। भारते म्लेच्छाक्रमणं वर्षचतुःशत्याः पूर्वमभूदिति सुप्रसिद्धम्। अप्रसिद्धस्तु पूयमेहः प्राचीनवैद्यकेऽदर्शनात्। युरोपे तु प्रसिद्ध एवायं रोगः पूर्वतोऽपि, तस्मादुन्नीयते फिरङ्गरोगेन सार्धमागतोऽयं रोग इति। किञ्च नायं रोगः फिरङ्गरोगवद् आमेरिकाख्यमहादेशादागतः, किन्तु युरोपखण्डादेवेति सुवचम् ॥६४६॥

अथागन्तुपूयमेहस्य निदानमाह—विशिष्टेति। सन्ति हि क्षतपूयकराः जीवाणवो नानाजातीयाः स्थावरा जङ्गमाश्च[१]। तत्र स्थावरा विन्दुपुञ्जाकाराः विन्दुमालाकाराः विन्दुयुग्माकाराः सूत्राद्याकाराश्च, ते निपुणैः विशिष्टपरीक्षाभिः-र्दृश्याः। तत्र विन्दुयुग्माकाराः[२] केचित् पूयमेहकराः इति परीक्षाशतसिद्धम्। उपस्थान्तरित्युक्तेः शिश्नयोन्योरभ्यन्तरे क्षतं भवतीति बोध्यम ॥६४७-६४८॥

अथाऽस्य रोगस्य आगन्तुकत्वेऽपि दोषकोपनत्वं यथास्यात्तदाह—आगन्ताविति। उक्तञ्च—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यं जनयति" (चरके)। अत्र तु दोषचतुष्टयस्यैव क्रमात् प्रकोपः ॥६४९॥

पूयमेहे क्षतसम्भवस्थानं दर्शयति—पुंस इति। मूत्रप्रसेक[३]श्चेह पुंसो मूत्रवाहिनी कलामयी नलिका वितस्तिप्रमाणा या वस्तिद्वारात् शिश्नाग्रपर्यन्तं प्रसृता।

१। तत्र स्थावरा जीवाणवः उद्भिदजातीयाः (Bacteria, Fungi &c.), जङ्गमाः क्रिमिजातीयाः।
२। पूयमेहकरा जीवाणवस्तु 'गनोकक्कस' (Gonococcus) संज्ञाः। ३। मूत्रप्रसेकः—Urethra.

योषितां पूयमेहस्तु योन्यन्तः क्षतसम्भवात् ।
तज्जः पूयश्चिरं तिष्ठन् श्वेतप्रदर उच्यते ॥६५१॥

(लिङ्गानि)

अथ मूत्रप्रसेकान्तः क्षतमुत्पद्यते यदा ।
पूयस्रावस्ततः सास्रक् तीव्रदाहरुजान्वितः ॥
उपस्थे व्रणशोथश्च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ।
ज्वरस्तृष्णा विबन्धश्च प्रहर्षे चार्त्तिरुल्वणा ॥६५२-६५३॥
आदौ चिकित्सया तेषु लिंगेषूपरतेष्वपि ।
दृश्यते प्रायशः शिश्नात् पूयविन्दुस्रवः प्रगे ॥६५४॥

तद्वर्णनविस्तरः प्रत्यक्षशारीरे द्रष्टव्यः। तस्य पूर्वांशः समग्रशिश्नान्तरीयः तस्याप्यग्रम् शिश्नमुण्डाभ्यन्तरस्थम्, मध्यांशः शिश्नमूलपौरुषग्रन्थ्योर्मध्यस्थम्। उभयमपि क्षत-स्थानम्। शेषांशे तु वस्तिद्वारिके पूयमेहजं क्षतं प्रायो न दृश्यते—इति चित्रम् ॥६५०॥

योषितामिति। तु इति भिन्नक्रमे। स्त्रीणां तु मूत्रप्रसेके क्षतं न भवति प्रायः, भवति तु तद् योन्यन्तरेव। कदाचित्तूभयत्र क्षतं दृश्यते। नवीनावस्थायां योनि-मार्गादेव रुजादाहादियुतः स्रावः पुनर्भवत्येव। पुराणावस्थामाह—तज्ज इति। यः खलु स्त्रीणां श्वेतप्रदर इति लोकप्रसिद्धो रोगः सोऽधुना पुराणपूयमेहज एव भूम्नेति भावः। यस्तु कफप्रदर इति प्राचां ग्रन्थेषूक्तः 'आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु'—इति वचनेन, स विनाऽपि पूयमेहं भवत्येव क्वचित् क्षामशरीरायाः इति चात्र स्मर्त्तव्यम् ॥६५१॥

अथ पूयमेहस्य लिङ्गान्याह षड्भिः—अथेति। तत्र प्रथमश्लोकद्वयेन पुंसो नवीनावस्था वर्ण्यते। द्वितीयद्वयेन तस्यैव पुराणावस्था, शेषद्वयेन स्त्रीणां पूयमेहस्य नवीनपुराणावस्थे। तत्र पुंसो मूत्रप्रसेकस्य पूर्वांशाग्रभागे क्षतसम्भव इति सम्प्राप्ति-रभिहिता, तस्माद् मूत्रप्रसेकान्तरिति सामान्योक्तावपि मूत्रप्रसेकपुरोभागे—इत्यर्थो व्याख्येयः। क्वचित्तु शिश्नगतमूत्रप्रसेकमध्येऽपि क्षतं भवत्येव। प्रहर्षः शिश्नप्रहर्ष-स्तस्मिन् सति उल्वणा घोरा आर्त्तिर्भवति। प्रहर्षश्चास्य चिरं तिष्ठति। आदाविति। उपरतेषु शान्तेषु। प्रगे प्रभाते, प्रथममूत्रणकाले। पूयविन्दुस्रवः विन्दुमात्रस्य पूयस्य निर्गमः ॥६५२-६५४॥

पूयाख्यमेहे तु पुरातने स्याद्
गूढं क्षतं मेहनमूलपृष्ठे ।
प्रायेण तस्मात् तनुसूत्रयुक्तं
पूयं स्रवेदाविलवारितुल्यम् ॥-५५५॥

योषितां तु नवे मेहे योन्यन्तः क्षतसम्भवात् ।
यथासम्भवलिङ्गानि पुरुषस्य यथा तथा ॥५५६॥

स्त्रीणां पुराणे खलु पूयमेहे
गर्भाशयद्वार्य्यभितोऽन्तरे वा ।
क्षतात् स्रवेत पूयमथाल्पमल्पं
प्रायेण नीरुक् तनु चाविलञ्च ॥६५७॥

(उपद्रवाः)

१। पूयमेहस्य पूयश्चेद् वस्तौ संक्रमते क्वचित् ।
व्रणशोथस्तदा तत्र वस्तिमेहनतोद्युक् ॥
रक्तपूययुतं मूत्रं माञ्जिष्ठं वाऽविलं स्रवेत् ।
वस्तिप्रशोथसंज्ञोऽयं दारुणः स्यादुपद्रवः ॥५५८-५६॥

पुराणपूयमेहस्य सम्प्राप्तिसहितं लक्षणमाह—पूयाख्यमेहे इति। तनुसूत्रयुक्तं सूक्ष्मसूत्राकारपूयसहितम्। शेषं स्पष्टम् ॥६५५॥

अथ स्त्रीणां नवीनपूयमेहमाह — योषितामिति। मेहे पूयमेहे, प्रकरणप्राप्तत्वात्। यथासम्भवलिङ्गानीत्युक्तेः प्रथमश्लोकद्वयोक्तपूयस्रावादारभ्य विबन्धश्चेत्यन्तोऽर्थो लभ्यते, प्रहर्षस्य स्त्रियामसम्भवात्। स्त्रीणामिति। गर्भाशयस्य द्वारि तत्परितस्तदभ्यन्तरे वा यत् क्षतं, तस्मात् पूयं स्रवेत् ॥६५६-६५७॥

अथ पूयमेहस्याष्टविधानुपद्रवानाह—पूयमेहस्येति। तत्राद्य उपद्रवो वस्तिप्रशोथो[1] नाम। रक्तपूययुतं, रक्ताभपूयभूयिष्ठम्। रक्ताधिक्ये तु माञ्जिष्ठं मञ्जिष्ठा-

---

१। वस्तिप्रशोथः—Cystitis. प्रशोथः—व्रणशोथः (Inflammation) एवं सर्वत्र ।

२। अथ चेत् तद् विषं घोरं वस्तेरूर्ध्वं प्रसर्पति ।
तदा गवीन्यौ बृक्कौ च भवेतां विषदूषितौ ।
सलसीकं तदा मूत्रं भूरिपूयं स मेहति ।
पूयबृक्काभिधः सोऽयं कादाचित्क उपद्रवः ॥५६०-६१॥

३। अथ गर्भाशयं वीजस्रोतसी च विशेषतः ।
दूषयेच्चेद् विषं घोरं तत्प्रशोथरुजाकरम् ।
वीजस्रोतोनिरोधेन बन्ध्यत्वं योषितां तदा ।
असृगदरश्च सरुजः पूयस्रावश्च भूरिशः ॥६६२-६३॥

४। यदा तु मुष्कौ प्रसरेत्तथाऽधिबृषणीद्वयम् ।
वीर्यस्रोतोयुगं वापि तत्प्रशोथरुजाकरम् ।
वीर्यमार्गनिरोधेन तदा बन्ध्यः पुमान् भवेत् ।
अपि मैथुनसामर्थ्ये वीर्यं यस्मान्न सिच्यते ॥६६४-६५॥

वर्णम् । द्वितीयमुपद्रवं पूयबृक्क[1]संज्ञमाह—अथेति । विषाणुप्रसर्पणञ्चोर्ध्वं गवीनीभ्यामेव । कादाचित्कः कदाचिद्भवः, न तु प्रायोभावी । तृतोयोपद्रवमाह—गर्भाशयमिति । वीजस्रोतसी वीजवाहिन्यौ नाम नलिके, गर्भाशयमुभयत स्थिते धनुषाकृती, ते प्रत्यक्षशारीरे सम्यग्वर्णिते । तत्र विषसंक्रमणं गर्भाशयान्तः व्रणशोथोत्पत्तेः[2] । तयोरुभयोरेकस्य वा प्रशोथः[3] प्रायशो दृश्यते । शूयते च तेन वीजकोषोऽपि[4] कदाचित् । उभयोश्च वीजस्रोतसोर्मार्गनिरोधे बन्ध्यत्वं स्यात्, असृग्दरस्तु गर्भाशयप्रशोथमात्रेण ॥६५८-६६३॥

अथ चतुर्थमुपद्रवमाह मुष्कादिप्रशोथरूपं यदेति । मुष्कः फलकोषः[5] । अधिवृषणिके तत्संसक्ते शुक्रवहस्रोतःसंघातरूपे शारीरवर्णिते । वीर्यस्रोतसी शुक्रवाहिन्यौ । तयोर्मुखद्वयं मूत्रप्रसेकान्तरुन्मुच्येते—इति स्मर्त्तव्यम् । वीर्यवाहिनीनिरोधश्च व्रणशोथेनैव । तत्रोभयतो मार्गनिरोधे पुंसो बन्ध्यत्वं, नत्वेकतो मार्गनिरोधे ॥६६४-६५॥

१। पूयवृक्कः—Septic Nephritis. २। गर्भाशयान्तः प्रशोथः—Endometritis. ३। वीजवाहिनीप्रशोथः—Salpingitis. ४। वीजकोषप्रशोथः—Ovaritis. ५। मुष्कप्रशोथः—Orchitis ६। अधिवृषणिकाप्रशोथः— Epidydimitis.

५। पूयमेहविषं स्तोकं यस्य रक्ते प्रसर्पति।
सन्धिवातोऽस्य विषजः प्रायश्च क्रोष्टुशीर्षकः॥६६६॥

६। पूयमेहविषे घोरे रक्तस्रोतसि सङ्गते।
भूयिष्ठमात्रेऽभिन्यासः प्रायेणाऽसाध्यकोटिकः॥६६७॥

७। पूयमेहस्य पूयश्चेत् कणामात्रो बिशेद् दृशि।
ततः स्याद्विषजो घोरो नेत्राभिष्यन्द आन्ध्यकृत्॥
गर्भिण्याः पूयमेहिन्याः प्रसूतस्य शिशोः स च।
प्रायेण नेत्रनाशाय परस्यापि क्वचित्तथा॥६६८-६९॥

८। अथ मूत्रप्रसेकस्य मूलाधारांशगस्य चेत्।
क्षतशोषेण सङ्कोचाच्छनैर्मार्गो निरुध्यते।

अथ पूयमेहजं सन्धिवातं[1] वर्णयति—पूयमेहेति। सोऽयं सन्धिवातप्रकरणे विषवातसंज्ञया समुद्दिष्टः। स्तोकमिति निर्देशाद् वक्ष्यमाणभूयिष्ठविषजादभिन्यासाद् भेदो दर्शितः। अथ भूयिष्ठविषसंयोगजमभिन्यासमाह[2]—पूयमेहविषे इति। रक्तस्रोतसि रक्तप्रवाहे सिराधमन्याद्यधिष्ठाने। अभिन्यासलक्षणं ज्वराधिकारे वर्णितपूर्वम्। असाध्यकोटिकः, असाध्यकाष्ठां गतः। प्रायेणेत्युक्तेः नैवं सर्वत्र॥६६६-६६७॥

अथ सप्तममुपद्रवं पूयमेहजनेत्राभिष्यन्दमाह—पूयमेहस्येति। दृशि नेत्रे यदि कणामात्रः पूयो विशेत्तदा घोरो दुश्चिकित्स्यो नेत्राभिष्यन्दो[3] भवति। तस्य दृष्टान्तमाह — गर्भिण्या इति। गर्भिण्या अपत्यपथश्चेत् पूयमेहदूषितस्तर्हि प्रसवकाले नेत्रे पूयसंक्रमात् शिशोर्दारुणो नेत्राभिष्यन्दो भवति, कल्पते च स तस्याऽन्ध्याय। परस्य अन्यस्यापि पूयदूषितवस्त्रादिस्पर्शादिति शेषः॥६६८-६९॥

अथ पुंसः पूयमेहस्य चरमं चिरकारिणमुपद्रवमाह—अथेति। मूत्रप्रसेको वर्णितपूर्वः। इह तु स शिश्नस्थोऽभिप्रेतः। तस्य भागत्रये यो मूलाधारिकांशः, पुराण पूयमेहे तदन्तः क्षतं तिष्ठति। तच्च क्रमेण शुष्यमाणं कलामयं तं प्रसेकभागं सङ्कोचयति

१। Gonorrhœal Arthritis. २। Gonorrrhœal Septiciæma. ३। पूयमेहजनेत्राभिष्यन्दः—Gonorrhoeal Ophthalmia.

वायौ प्रवृद्धे सङ्कोचोऽभ्यधिकोऽस्य पुनर्भवेत् ।
तदा प्रसेकसङ्कोचसंज्ञः कष्ट उपद्रवः ॥६७०-७१॥
निरुद्धमूत्रः कष्टात् स दन्तान् खादति वेपते ।
मेहनं मर्दयेद् गाढ़ं मुहुः कूजन् प्रवाहते ।
शकृन्मुञ्चति मूत्रन्तु विन्दुशो नैव वा कचित् ।
शल्यतान्त्रिकसाध्योऽयं पुनर्भावी ह्युपद्रवः ॥
एष रोगः कदाचित् स्यादश्मर्यादिकृतात् क्षतात् ।
काले प्रवयसाश्चापि पौरुषग्रन्थिवृद्धितः ॥६७२-७४॥

तस्माद् मूत्रमार्गः शनैः शनैर्निरुध्यते। तस्य विशेषमाह—वायाविति। यावान् खल्विह कलासङ्कोचकृतो मार्गसङ्कोचस्ततोऽभ्यधिकः, अधिकतरः सङ्कोचो वातवैगुण्येन भवति। तेन काले काले मूत्रनिरोधः, न तु नियतमेव। सोऽयं प्रसेकसङ्कोच[1]संज्ञः कष्टप्रद उपद्रवः जीर्णपूयमेहस्य। अतिमात्रसङ्कोचे तु सर्वथा मूत्रनिरोधः ॥६७०-६७१॥

निरुद्धमूत्रस्य लक्षणानि दर्शयति—निरुद्धेति। दन्तान् खादति, दन्तैर्दन्तान् निष्पिनष्टि। प्रवाहणवेगात् शकृन्मुञ्चति न तु मूत्रं, मुञ्चति वा मूत्रं विन्दुशः सूक्ष्मधारया वा, नैव वा मूत्रमार्गसङ्कोचाधिक्ये। स एष रोगः शल्यतान्त्रिकैर्निपुणैः साध्यः, शलाकाप्रयोगादिना, न पुनः केवलं भेषजप्रयोगेणेत्यर्थः। पुनर्भावी—पुनःपुनर्भवनशीलः। शलाकाप्रयोगेण शनैः शनैर्विस्फारितस्यापि मूत्रप्रसेकस्य पुनः सङ्कोचदर्शनादिति भावः। स एष तुल्यलक्षणो रोगः कदाचिन्मूत्रेण सह अश्मरीखण्डनिर्गमकाले मूत्रप्रसेकस्य क्षणनात् कालेन तत्कृतसङ्कोचाच्च भवतीति दर्शयन्नाह—एष इति। आदिपदेन कदाचिदभिघातादपि। अपरमपि मूत्रप्रसेकसङ्कोचभेदमाह—काले इति। प्रवयसां वृद्धानाम्। पौरुषग्रन्थिवृद्धितः[2]—पौरुषग्रन्थिर्नाम मूत्रप्रसेकस्य बस्तिद्वारिकं भागं संवेष्ट्य स्थितः अक्षोटफलाकारो ग्रन्थिस्तोलकद्वयपरिमाणः प्रायेण। तस्य वार्धके वृद्धिः स्वाभाविकी। अतिप्रवृद्धश्च स कदाचिन्मूत्रमार्गं सङ्कीर्णं करोति, निरुणद्धि च शनैर्वस्तिद्वारमिति सूचितं प्रत्यक्षशारीरे मूत्रप्रजननयन्त्रवर्णने ॥६७२-६७४॥

इति अष्टमोऽध्यायः।

१। प्रसेकसङ्कोचः—Stricture of Urethra. २। Enlargement of Prostate gland.

सिद्धान्तनिदानम् ।

नवमोऽध्यायः ।

अथ उपदंशनिदानम् ।

(निरुक्तिः) उपस्थक्षतकृद्व्याधिरुपदंश इतीर्यते ।
त्रिविधश्च स विज्ञेयः, सर्वेऽप्यागन्तुहेतुकाः ॥
तत्राद्यो नखदन्ताद्यैरभिघातकृतो मतः ।
द्वितीयो दुष्टयोन्यादिसंसर्गात् नातिदारुणः ॥
तृतीयस्तु फिरङ्गाख्यः शिश्नादिक्षतपूर्वकः ।
सर्वधातुषु संसर्पी चिरं क्लिश्नाति यो नरम् ॥६७५-७७॥
पृथगेव हि तद्रूपं सेतिहासं प्रवक्ष्यते ।
घोरो व्याधिर्यतः सोऽसौ स्वकृतो जन्मजस्तथा ॥६७८॥

अथ पूयमेहवर्णनानन्तरं तत्सदृशहेतुकं शिश्न-योनिक्षतादिलक्षणमुपदंशं वर्णयितुमुपक्रमते—उपस्थेति। उपस्थे दशतीवेत्युपदंशः † (निपातनात्)। ईर्यते कथ्यते। तत्रेति। आद्यः प्रकारः अभिघातकृतः[१], अभिघातश्च नखदन्ताद्यैः कर-मुखमैथुनादिषु कामाधिक्याद् द्वेषवशाद् वा। आद्यपदेन हस्ताभिघात-कण्टक-व्यधनादि च गृह्यते। द्वितीयस्तु प्रकारः दुष्टयोन्यादिसंसर्गात्[२]—जीवाणुदूषित-क्षतवता योनेः शिश्नाद्वा विषसंक्रमणहेतुकः। नातिदारुणः—स्वल्पैरेव दारुणलक्षणै-रुपलक्षितः, न तु फिरङ्गवदायतौ दारुणलक्षणश्चिरकारी वा। अथ तृतीयं प्रकारं फिरङ्गाख्यमुद्दिशति—तृतीयस्त्विति। वक्ष्यमाणो हि फिरङ्गाख्यो रोगः[३] सर्वधातु-प्रसारी। चिरं बहुवर्षाणि यावत् नरं क्लिश्नाति। स च सुदारुणो व्याधि-र्द्विविधः—स्वकृतः, स्वोपार्जितः। जन्मजः, जन्मदोषजश्चेति। उपदंशसंज्ञा चेह गौणी, उपस्थक्षतमात्रसादृश्यात् गम्भीरधात्ववगाहित्वाच्च ॥६७५-६७८॥

---

† उपदंशः—Sore on genital organs. १। Traumatic Ulcer. २। Soft Chancre. ३। फिरङ्ग रोगः—*Syphilis* (Hard Chancre).

(निदानं, अभिघातस्ततो दुष्टजीवाणुविषदूषणम् ।
सम्प्राप्तिश्च) प्रथमे तु निदानं स्यात् पिचु-प्लोतादिदोषतः ॥
शिश्नादिव्रणतो दुष्टाद् जीवाणुविषसंक्रमः ।
द्वितीये कारणं ज्ञेयं क्षतोत्पत्तिश्च तत्कृता ॥
नातिघोरो ह्ययं ज्ञेयः स्थान-सन्निधिदूषणः ।
प्रायेणाऽस्य विषं यस्माद् वंक्षणग्रन्थिमाश्रयेत् ॥
व्रणशोथश्च पाकश्च बहुशस्तत्र जायते ।
तावता शाम्यति व्याधिरत ऊर्ध्वं न सर्पति ॥६७६-८२॥

अथाऽद्वयोरुपदंशयोर्निदानं सम्प्राप्तिं चाह—अभिघात इति । प्रथमे अभिघातजे । अभिघातादिद्वयमपि निदानम् । ननु दुष्टजीवाणुविषदूषणं कुतो भवतीत्याशङ्कायामाह—पिचु-प्लोतादिदोषतः—इति[1] । यदि सद्यस्कं क्षतं शोधनौषधादिना शीघ्रमुपचर्यते, तर्हि सत्वरमेव शाम्यति व्रणः । अन्यथा पिचु-प्लोतादीनां पूयदजीवाणुदूषितत्वात् तत्स्पर्शेन क्लेशदक्षतसम्भवः पूयादिस्रावीति भावः । शिश्नादीति । द्वितीये उपदंशे तु कारणं दुष्टयोन्यादिमैथुनाद् जीवाणुविशेषसंक्रमणमेव । जीवाणुश्चायं शिश्नादावेव व्रणकृत् क्षतोत्पत्तिश्च तन्निमित्तकैव । क्षते पूयसञ्चारस्तु तत्प्रदपृथग्विध-जीवाणुसांकर्यकृत — इति स्मर्त्तव्यम् । स कदाचिदधावनाद्धेतोरपि भवति । ते हि जीवाणवः सर्वत्रालक्षितसञ्चारिणः सुक्षेत्रे लब्धे स्वकार्यकारिणः । नातिघोर इति । सोऽयं रोगः स्थानसन्निधिदूषणः, शिश्नादिस्थानस्य तत्सन्निधिस्थवंक्षणग्रन्थीनाञ्च दूषणः, न तु सार्वकायिकरक्तदूषणः । अत एव नातिघोरः । वंक्षणग्रन्थिं, वंक्षणस्थं लसीकाग्रन्थिमाश्रयेदाक्रामेद्, विषस्यास्योर्ध्वप्रसरणप्रतिबेधार्थमिति भावः । अत ऊर्ध्वमतःपरं न सर्पति, रक्तमांसादिधातुषु न प्रसरति । यत्तु सुश्रुतादौ उपदंशानां पञ्चविधत्वमुक्तम्—"स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति" (नि० १२ अ०) तत्र दोषानुसारेण विभागो मन्तव्यः । तेन निदानानुसारेण विभागो ग्रन्थकृतोक्तो न वाध्यते । लिङ्गानुसारेण विभागेऽपि प्रायिकलक्षणविशेषबाहुल्यदर्शनात् त्रिविधत्वमेव सुवचम्, लाघवात् शिष्यबुद्धिवैशद्यकरत्वाच्चेति ॥६७६-६८२॥

१। पिचु-तूलकादि, प्लोतं तनुवस्त्रखण्डं यत् क्षतोपरि आवरणार्थं दीयते। आदिपदेन धावनजलाद्यपि गृह्यते। तेषां दोषतः, अशोधितत्वात्।

(लिङ्गानि)

तत्राद्येऽल्पानि लिङ्गानि शीघ्रं रोहति च व्रणः।
न चेत् स दुरुपक्रान्तः पूयाणुविषदूषितः ॥६८३॥
द्वितीये प्रायशोऽनेकमुत्तानं कोमलं क्षतम्।
शिश्नमुण्डे तच्छदे वा भगोष्ठे वा भगान्तरे ॥६८४॥
वंक्षणग्रन्थिपाकश्च भूम्नैवात्र प्रजायते।
तदारोग्ये गतो रोगो न हि लिङ्गान्यतः परम् ॥६८५॥
अथोपक्रमहीनस्य मूढस्य क्षतहेलया।
कदाचिच्छिश्नसंकोथो मुष्कावदरणं तथा ॥६८६॥

अथ उपदंशलिङ्गान्याह—तत्रेति। आद्ये अभिघातजे उपदंशे। दुरुपक्रान्तः मलिनपिचुप्लोतादिना द्रावकादितीक्ष्णौषधप्रयोगेण वा चिकित्सितः। द्वितीये इति। द्वितीये दुष्टव्यवायजे उपदंशे। क्षतमनेकमेकाधिकम् (कदाचिदेकमपि)। उत्तानमगभीरम्। कोमलं कोमलस्पर्शम्। फिरङ्गजे क्षते तु विपरीतलक्षणं क्षतं भवतीत्यग्रे वक्ष्यते। भगान्तरे योनेरभ्यन्तरे। नत्वन्यत्र—इत्युपदंशस्य वैशिष्ट्यं स्मर्त्तव्यम्। फिरङ्गरोगे तु ओष्ठांगुलीचूचुकादावपि कदाचित् क्षतं भवति ॥६८३-८४॥

तत्र प्रायोभाविनं वंक्षणग्रन्थिपाकं वर्णयति—वंक्षणेति। सामन्योपदंशजं हि विषं रसायनीभिरूर्ध्वं प्रसृतं वंक्षणग्रन्थिष्ववरुध्यते, दुष्टलसीकाया निर्विषीकरणार्थम्[1]। विषेण सह युध्यमानासु च ग्रन्थिगतश्वेतकणिकासु कश्चिदेको द्वौ त्रयो वा ग्रन्थयो यदा विपद्यन्ते तदा पूयोत्पत्तिः व्रणशोथपूर्वा ॥६८५॥

उपदंशे कादाचित्कमुपद्रवमाह—अथेति। क्षतहेलया क्षतस्यावहेलया, अनुपक्रमेणाऽचिकित्सया मूर्खजनोपदिष्टचिकित्सया वा। शिश्नसङ्कोथः[2] शिश्नस्य पूतिगलितभावः। मुष्कावदरणं मुष्कयोर्मुष्कस्य वा क्षतविदीर्णत्वं विशीर्णता च। सोऽयमुपद्रवो बालिकादीनामेव कदाचिद् भवति, नान्येषामिदानीम् ॥६८६॥

१। तदुक्तम्—"यदा पुनः शरीरे कस्यापि विषस्य संक्रमणं रसायनीमार्गैः, तदा (सन्निहित) लसीकाग्रन्थिष्वेवादौ तदवरोधः तद्विध्वंसनप्रयत्नश्च श्वेतकणिकाभिस्तस्मात् शरीररक्षिभूताः लसीकाग्रन्थयः।" इति प्रत्यक्षशारीरे चतुर्थावृत्तौ (१५७ पृष्ठे)। २। सङ्कोथः—Gangrene.

अथ फिरङ्गरोगनिदानम् ।

(Syphilis)

(निरुक्तिः) फिरङ्गजुष्टस्त्रीपुंस-संयोगात् कालयोगतः ।
क्षतं यत् कठिनस्पर्शं शिश्नादौ मण्डलाकृति ॥६८७॥
द्वि-त्रिमासात्ततो यश्च विषवीसर्पकृत्त्वचि ।
विशिष्टक्रिमिजन्योऽसौ स्वकृतः स्यात् फिरङ्गकः ॥६८८॥
मातृरक्ते क्रिमिव्याप्ते यदपत्यं प्रजायते ।
तदपि स्याद् तदाक्रान्तं जीर्ण-शीर्णं स्वलक्षणैः ।
जन्मदोषकृतः सोऽसौ फिरङ्गः स्याद् दुरायतिः ।
वीजदोषकृतं केचित्तमेवाहुः फिरङ्गकम् ॥६८९-६९०॥

अथ फिरङ्गरोगं पृथग् वर्णयति--फिरङ्गजुष्टेति । अत्र फिरङ्गपदं फिरङ्गरोग-वाचकं तदुत्पादकक्रिमिवाचकं वा। तज्जुष्टौ तदाक्रान्तौ यौ स्त्री-पुंसौ तयोः संयोगाद् व्यवायाद्धेतोः । कालयोगतः, कालयोगं प्राप्य । कालश्चात्र पक्षः पक्षद्वयं पक्षत्रयं वेत्यग्रे वक्ष्यते । सेयमाद्या प्रसुप्तावस्था शरीरप्रविष्टफिरङ्गक्रिमीणाम् । शिश्नादावित्यादिपदेन भगोष्ठांगुल्यादीनामपीह ग्रहणम् । कठिनं मण्डलाकृति चेति विशेषणद्वयं क्षतस्य वैशिष्ट्यं सूचयति । सामान्योपदंशक्षतं हि कोमलं विषमसीमकं चेत्यनयोर्भेदः । ततः, क्षतोत्पत्तेः । त्वचि, गात्रचर्मसु यतस्ततः । विषवीसर्पकृत्, फिरङ्गविषस्य ताम्रादिवर्णचिह्नैर्मण्डल-चत्वराद्याकारैर्विसर्पणप्रदः । विशिष्टक्रिमिजन्यः—वक्ष्यमाण-त्रिपणिमाख्यक्रिमिहेतुकः । स्वकृतः[1] स्वोपार्जितः, न तु पितृमातृदोषकृतः । फिरङ्गकस्तत्संज्ञो रोगः, संज्ञायां कः । तदेतदाद्यावस्थाद्वयं फिरङ्गरोगस्य, येन दृष्टेन निःसंशयं रोगविज्ञानं भवति ॥६८७-६८८॥

अथ जन्मदोषकृतमन्यविधं फिरङ्गरोगमाह—मातृरक्ते इति । क्रिमिव्याप्ते फिरङ्गक्रिमिसंकुले सति । यदपत्यं प्रजायते, तदपि तदाक्रान्तं फिरङ्गक्रिमिपूर्णं स्यात् । स्वलक्षणैः वक्ष्यमाणैः फिरङ्गरोगलक्षणैः । सोऽसौ जन्मदोषकृतः[2] फिरङ्गरोगोऽतिदुरायतिः दुःखपरिणामः । ननु तर्हि किं वीजदोषजः फिरंगको नास्तीत्याशङ्कायामाह—तमेव फिरङ्गकं वीजदोषजमाहुः केचिदज्ञानात् । अस्यायमभिसन्धिः—

१। स्वकृतः फिरङ्गः—Acquired Syphilis. २। जन्मदोषकृतः फिरङ्गः—Congenital Syphilis.

(इतिहासः) प्राग् वत्सरचतुःशत्याः फिरङ्गाणां प्रसङ्गतः।
भारते समभूदेष रोगः क्रिमिविषोद्भवः।
अथ स्त्री-पुंससंयोगात् क्रमाद् व्याप्तं विषं हि तत्।
भारतीयान् परांश्चापि संक्लेशयति सर्वथा ॥६६१-६२॥

(निदानं आवर्त्तिनी लताशुङ्गा यथा तादृक् स्वरूपतः।
संप्राप्तिश्च) स्वच्छस्त्रिपणिमासंज्ञः क्रिमिः सूक्ष्मोऽत्र कारणम् ॥६६३॥
क्रिमिजुष्टक्षतावास-योन्यादेः स्पर्शयोगतः।
मैथुने स क्रिमिः क्रामन्नदृश्यो विशते तनुम् ॥६६४॥
प्रसुप्तवदसौ पक्षं द्वि-त्रपक्षानथापि वा।
क्रिमियुक्पिड़कां कुर्यात् क्षतं तूर्णं भवेत्ततः ॥६६५॥

फिरङ्गरोगदुष्टाया मातुरसराया रक्तेन गर्भस्थशिशोः शरीरपोषणात्तत्र त्रिपणिमाख्य-क्रिमीणां सञ्चारः। न पुनर्बीजे वीर्ये वा स संभवतीत्यग्रे वक्ष्यते। सोऽयमाधुनिक-परीक्षाशतसिद्धः सिद्धान्तः ॥६८६-६६०॥

फिरङ्गरोगस्य भारतागमनेतिहासमाह—प्रागिति द्वाभ्याम्। प्राचां ग्रन्थेषु हि न वर्णितोऽयं रोगः, वर्णितस्तु भावमिश्रेण। तत्समये[१] फिरङ्गरोगस्य प्रसरद्रूपत्वात्। फिरङ्गा हि पर्तुगालदेशाद् वर्षचतुःशत्याः पूर्वं भारतं प्रविष्टा रोगममुं प्रसारयांचक्रुः। अत एवास्य फिरङ्गरोग इति संज्ञा। तैश्चायं रोगस्तदा नवाविष्कृतादामेरिका-महादेशात् समानीत इति—इतिहासविदां सिद्धान्तः। शेषं स्पष्टम् ॥६६१-६२॥

अथ फिरङ्गरोगनिदानमाह—आवर्त्तिनीति। आवर्त्तिनी अनेकावर्त्तवती। लताशुङ्गा, कुष्माण्डलतादिषु बहुधा वर्त्तमाना सूत्राकारा लताया वृक्षशाखादिषु बन्धनार्था। स्वच्छो वर्णहीनः। सूक्ष्मः सामान्यचक्षुषाऽदृश्यः, अणुवीक्षणयन्त्रेण तु दृश्य एवेदानीमुपायविशेषेण। त्रिपणिमा[२]—इत्याधुनिकी संज्ञा ॥६६३॥

फिरङ्गसम्प्राप्तिमाह चतुर्भिः श्लोकैः—क्रिमिजुष्टेति। क्रिमिपदश्चात्र पूर्वोक्त-त्रिपणिमाख्यक्रिमिवाचकम्। तैः क्रिमिभिर्जुष्टमाक्रान्तं यत् क्षतं तस्य आवासः वासभूमिरिति योन्यादेर्विशेषणम्। क्रामन् सञ्चरन्। संक्रान्तोऽपि क्रिमिरसौ

१। भावमिश्रसमयश्च खृष्टीयषोडशशतकस्य मध्यभागे इति निर्णीतं प्रत्यक्षशारीरस्योपोद्घाते।
२। त्रिपणिमा—Treponema (or Spirochita) Pallidum. तच्चित्रमग्रे द्रष्टव्यम्।

दोषाः सर्वेऽथ कुप्यन्ति दूष्यन्ते सर्वधातवः ।
दृश्यन्ते तेन लिङ्गानि त्वङ्-मांसा-ऽस्थिषु भूरिशः ॥६६६॥
अथोपशान्तप्रायेषु शनैर्लिंगेषु तद् विषम् ।
कुर्यात् सुप्तोत्थितमिव काले कष्टानुपद्रवान् ॥६६७॥
मातृरक्ते प्रदुष्टे तु यदा गर्भः प्रजायते ।
तदा व्यापद्यते भूम्ना जीवेद् वापि कदाचन ।
जातश्च चिररोगी स फिरङ्गक्रिमिसंकुलः ।
विषाक्तरक्तलिङ्गानि काले काले प्रदर्शयेत् ॥६६८-६६॥

सद्य एव क्षतं न जनयतीत्याह—प्रसुप्तवदिति । पक्षं पक्षौ पक्षान् वा यावत् प्रसुप्तवन्निद्रित इव, स्थित्वेति शेषः । क्रिमियुक्पिड़कां—अदृश्यक्रिमिसंकुलां पिड़कां कुर्यादुत्पादयेत् तत्रैव शिश्न-योनि-चूचुकादिषु ॥६६५-६६६॥

अथ द्वितीयदशायां क्रिमिविषकृतं दोष-धातुप्रकोपमाह—दोषा इति । अथ क्षतोत्पत्तेरनन्तरम् । सर्वे दोषाः — वात-पित्त-कफ-शोणितसंज्ञाः । कुप्यन्ति प्रकोपमापद्यन्ते । सर्वधातवः—रसादिशुक्रान्ताः, यावदुपधातवश्च स्नाय्वादयो दूष्यन्ते, फिरंगक्रिमिभिरिति शेषः । त्वङ्मांसास्थिष्वित्यनेन त्वङ्मांसयोः पिड़काः, अस्थ्नि जङ्घास्थ्यादिषु अस्थिधरकलायाश्च व्रणशोथादयः ॥६६६॥

अथ तृतीयावस्थासम्प्राप्तिमुद्दिशति अथेति । अथ त्वङ्मांसास्थिदूषणानन्तरम् । लिंगेषु—विसर्पादिषु । उपशान्तप्रायेषु—भूम्ना व्यपगतेषु । तद्विषम्, तेषां क्रिमीणां गम्भीरप्रविष्टानां विषम् । सुप्तोत्थितमिव, आदौ सुप्तं ततः कालेनोत्थितं जागरितम् । कष्टान् घोरान् उपद्रवान् कुर्यात् प्रकाशयेत् । यत्तु भावमिश्रः—"फिरङ्गदेशजोऽयं रोगः" इत्युक्त्वा 'फिरंगिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरंगिण्याः प्रसंगत' इति तन्निदानमभिधाय च शेषे 'याप्यो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा'—इत्युपसंजहार, तत्र मुनीनां सम्मतिः स्वकपोलकल्पनामात्रम् । पुरा मुनीनां समये कुतः फिरंगाणामागमनमिति । किञ्च यत् तेन बहिर्भवादिभेदत्रयमुक्तं तदपि तथैव, फिरंगरोगस्य सदैव बहिरन्तर्भवत्वात् ॥६६७॥

अथ जन्मदोषजं फिरंगं वर्णयति द्वाभ्याम्—मातृरक्ते इति । मातृशोणिते प्रदुष्टे क्रिमिविषदुष्टे सति यदा गर्भसञ्चारः स्यात्तदा व्यापद्यते गर्भस्थ एव बालः । भूम्ना प्राचुर्येण । कदाचन, रक्ते विषस्याल्पत्वाद् भाग्यवशाद्वा कश्चिज्जीवति ।

न वीर्यं नापि वा वीजं गर्भे सञ्चारयेत् क्रिमीन्।
अमरा तु तदाऽक्रान्ता गर्भस्तैः सम्प्रदूष्यते ॥७००॥

(लिङ्गानि दशात्रयविभागश्च)

तिस्रो दशाः फिरङ्गस्य स्वार्जितस्य भवन्ति हि।
प्रथमा तु क्षतोत्पत्तेः द्वि-त्रमासांस्ततः परम् ॥
आ-षण्मासं द्वितीया स्यात्त्वङ्मांसास्थिसमाश्रया।
वर्षं वर्षद्वयं वा सा न चेत् सम्यगुपक्रमः ॥७०१-२॥

एवंजातश्च स बालः फिरङ्गक्रिमिसङ्कुलः, प्रायेण रक्तमांसादिषु त्रिपणिमाख्य-क्रिमिभिर्व्याप्तः—इति नवीनतमपरीक्षासिद्धमेतत् ॥६६८-६६९॥

ननु वीर्यदोषतो वीजदोषतो वा कथं गर्भदोषो न स्यादिति स्पष्टीकरोति—न वीर्यमिति। इदं खल्विह वैचित्र्यं यद् विकृतेनापि वीर्येण वीजेन वा गर्भस्य फिरङ्गविषदुष्टत्वं न भवति, वीर्ये वीजे वाऽणुरूपे क्रिमिसञ्चाराऽसम्भवात्। कुतस्तर्हि गर्भे क्रिमिसञ्चार इत्याशङ्कायामाह—अमरेति। अमरा[१] नाम गर्भिण्या गर्भाशयाभ्यन्तरे पार्श्वतः संसक्तो बृहच्छत्राकाकारो गर्भकाले नवोद्भूतोऽवयवो गर्भपोषणः, यः प्रसवानन्तरं गर्भाशयस्य दृढसङ्कोचात् स्वयं पतति। गर्भधारणकाले च यत्र स्वभावेन निर्मितानि सिराधमनीजालकानि मातुराहाररसेन पोष्यमाणानि गर्भनाभिनाड़ीमार्गेण गर्भस्थवालदेहं पुष्णन्ति। फिरङ्गरोगिण्याः मातुः शोणितस्य क्रिमिसङ्कुलत्वादमराया अपि तथाविधत्वम्, ततश्च गर्भदेहस्यापि क्रिमिसङ्कुलत्वम्। अमरालक्षणन्तु प्राचां ग्रन्थेष्वपि संक्षेपाद् वर्णितं यथा—चरके "नाभ्यां ह्यस्य प्रसक्ता, नाड्यां चामरा, अमरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये[२], मातृहृदयं ह्यस्यताममरामभिसंप्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः" (शा० ६ अ०) ॥७००॥

अथ फिरङ्गरोगस्य लिङ्गानि वर्णयितुकामस्तेषां दशात्रयविभागं दर्शयति—तिस्र इति। स्वार्जितस्य स्वकृतस्य न तु जन्मदोषकृतस्य। तत्र प्रथमा दशा क्षतोत्पत्तेरारभ्य प्रायो द्वित्रमासान् यावत्। ततः परं षण्मासपर्यन्तं त्वङ्मांसादिषु विषविसर्पदायिनी द्वितीया दशा। सेयं सम्यगचिकित्सिता कदाचिद् वर्षं वर्षद्वयं

१। अमरा (अपरा वा)—Placenta. दृश्यतां प्रत्यक्षशारीरे धमनीखण्डे गर्भस्थशिशोः रक्तसंवहनचित्रम्। (६६ संख्यकम्)। २। मातुः हृदये प्रसक्तेति मातृहृदयेन परम्परया सम्बन्धवतीत्यर्थः। साक्षात्प्रसक्तिस्तु न सम्भवति।

तृतीया त्वतिगम्भीरा दुर्ज्ञेया दुरुपक्रमा ।
वर्षाणां विंशतिं तिष्ठेत् त्रिंशद्वर्षाणि वा क्वचित् ॥७०३॥
तासाञ्च कालनियमो विषस्याल्पाधिकत्वतः ।
उपक्रमस्य भेदाच्च बहुधा परिवर्त्तते ॥७०४॥
लिङ्गानि मासाद्वा सार्धमासाद्वा पत्ताद्वापि व्यवायतः ।
(प्रथमा दशा) शिश्नमुण्डे तच्छदे वा भगोष्ठे वा तदन्तरे ।
चूचुके वा मुखादौ वाऽप्यंगुल्यां वा गुदेऽपि वा ।
सम्भवेत् पिड़का स्वल्पा स्फुटिता सा चतप्रदा ॥७०५-६॥
तरुणास्थिसमस्पर्शं मण्डलं स्वल्परुक्-स्रवम् ।
समुन्नतं सगर्तं वा क्रिमियुक किणशेषि तत् ॥७०७॥

वा व्याप्य तिष्ठति। अथ तृतीया दशा वर्णितलक्षणेषु शान्तेषु प्रारभ्यते। तृतीयेति। अतिगम्भीरा, गम्भीरधात्ववगाहिनी। दुर्ज्ञेया, विविधविचित्रलक्षणत्वाद् यदा-कदाचित् लिंगानां प्रादुर्भावाच्च। दुरुपक्रमा, दुष्प्रतीकारा। अन्यत् स्पष्टम् ॥७०१-३॥

अथ दशानां कालनियमव्यतिक्रमं दर्शयति—तासामिति। तासामुक्तदशानां यः कालनियमः पक्ष-मास-वर्षपरिमाणकालस्थायित्वनियमो दर्शितः, स विपरिवर्त्तते, कदाचिद्भिन्नरूपो भवति। तत्र हेतुद्वयमाह—विषस्याल्पाधिकत्वतः, फिरङ्गविषस्य अल्पत्वादधिकत्वाद् वा। उपक्रमभेदाच्च, चिकित्सासाफल्यस्य तारतम्याच्च। ततो दशाभोगस्य कालतारतम्यं लक्षणतारतम्यं च दृश्यत इति भावः ॥७०४॥

अथ फिरङ्गरोगलिङ्गानि विस्तरेणाह—मासाद्वेति। व्यवायतः, मैथुनतः। उपलक्षणमेतत्, अन्यथाऽपि सम्भवात्—यथा अंगुल्या क्षतपरीक्षणात् चिकित्-सकस्य, चूचुके वा धात्र्या रोगजुष्टशिशवे स्तन्यदानात्। तदन्तरे—शिश्नमुण्डा-भ्यन्तरे, भगाभ्यन्तरे वा। ततः कदाचिदलक्षितमपि क्षतं स्यात् ॥७०५-७०६॥

अथ फिरङ्गक्षतरूपं वर्णयति—तरुणास्थीति। तरुणास्थिसमस्पर्शम्, ईषत्-कठिनस्पर्शम्। कठिनस्पर्शत्वञ्च परिधौ विशेषात्। मण्डलं मण्डलप्रायं, कदाचित् परिखाद्याकारमपि शिश्नग्रीवादौ। तत् क्षतमिति शेषेणान्वयः। कदाचिद् अन्तःक्षतं बहिरक्षतमपि तत्। समुन्नतम्, सर्वत्र किञ्चिदुन्नतम्। ईदृशमेव क्षतं प्रायिकम्। सगर्तं वा, मध्ये गर्तयुतं वा। तच्चैकमेव प्रायः, अन्यत्रोपदंशसाङ्कर्यात्।

क्षतसन्निहिते स्थाने लसीकाग्रन्थयस्तु ये।
ते शूयन्ते न पच्यन्ते चलत्पूगफलोपमाः॥
क्षतन्तु सार्धमासान्तः सूपक्रान्तं प्ररोहति।
प्रथमेयं दशा प्रोक्ता फिरङ्गविषसम्भवा॥७०८-६॥
(द्वितीया दशा) द्वितीयायां दशायान्तु द्वित्रमासैः क्षतोद्भवात्।
प्रसर्पणं विषस्य स्यात् सर्वधात्वाशयादिषु॥७१०॥

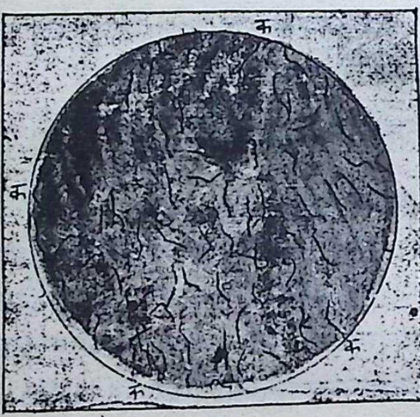

(क-क-क—त्रिपणिमाख्यक्रिमयः)

क्रि मि यु क्—त्रिपणिमाख्यसूक्ष्मक्रिमियुक्तम्। क्रिमयश्च ते सूक्ष्मदर्शकयन्त्रेण दृश्यन्ते शुभ्रवर्णाः, आवर्तिलताशुङ्गाकाराः, रञ्जकमसीवर्णेन परीक्षाक्षेत्रस्य रञ्जनात्। कि ण शे षि—किणाख्यो यो रूढ़व्रणशेषस्तद्युक्तम्। किणशेषित्वं च फिरङ्गक्षतस्य भेदकं लिङ्गमिति स्मर्त्तव्यम्॥७०७॥

अपरमपि क्षतसम्भवानन्तरभाविनं ग्रन्थिशोफं वर्णयति—क्षतसन्निहिते—इति। क्षतसन्निहिते क्षतसमीपस्थे स्थाने ये लसीकाग्रन्थयः ते यथा—उपस्थक्षते सति वंक्षणस्थाः, ओष्ठक्षते ग्रीवागताः, चूचुकक्षते कक्षास्थिता ग्रन्थयः—ते शूयन्ते व्रणशोथवन्तो भवन्ति, न तु पच्यन्ते सामान्योपदंश इव। तर्हि कीदृशास्तिष्ठन्तीति विशिनष्टि—चलन्तः, चञ्चलाः अङ्गुलिभिरीषत्पीड़नात् त्वगधः प्रचलनशीलाः पूगफलोपमाः, गुवाकफलवत् कठिनगुलिकाकाराः। उपदंशक्षते तु वंक्षणग्रन्थयः प्रायशः पच्यन्ते—इति भेदः। क्षतारोग्यकालमाह—क्षतन्त्विति। सार्धमासान्तरिति स्थूलतः समयनिर्देशः। सूपक्रान्तं सम्यक् चिकित्सितम्॥७०८-७०६॥

अथ फिरङ्गरोगस्य द्वितीयां दशामाह चतुर्भिः—द्वितीयायामिति। द्वित्रमासः, द्वौ त्रयो वा परिमाणमेषामिति द्वित्रास्तावद्भिर्मासैः। क्षतोद्भवात् तदारभ्य। सर्वधात्वाशयादिषु—सर्वधातुषु रस-रक्तादिषु, आशयेषु यकृत्-प्लीहादिषु। आदि-

आताम्रैः श्याव-कृष्णैर्वा प्रायो विषमसीमकैः ।
मण्डलैश्चत्वराभैर्वा व्याप्यन्ते बहुधा त्वचः ।
क्वचिन्मसूरिकाकाराः क्वचिद्विस्फोटसन्निभाः ।
पिड़काश्चाऽस्य बहुशो गात्रचर्मस्वकण्डुराः ॥
चिह्नानि तानि भूम्ना स्युर्जङ्घयोरुदरोरसोः ।
कर-पादतले चाऽपि न प्रायो मुखमण्डले ॥७११-१३॥
ज्वरश्च विषमस्तस्य निशि तीव्रा शिरोरुजा ।
ज्वरपूर्वं कदाचिद् वा सम्भवेत्त्वाचवैकृतम् ॥७१४॥
वंक्षण्या गलबाह्या वा ग्रन्थयोऽन्यत्र वा क्वचित् ।
इहापि शूनास्तिष्ठन्ति कठिनीवच्चलन्ति च ॥७१५॥
पतन्ति केशाः बर्धेते कृशता पाण्डुता तनोः ।
दन्ताश्चापि विशीर्यन्ते कोथो हन्वस्थनि क्वचित् ॥७१६॥

पदेन अन्येष्वपि शारीरवस्तुषु त्वगादिषु स्रोतःसु च। विषस्य प्रसर्पणं दर्शयति—आताम्रैरिति। विषमसीमकैः असमानसीमायुतैः, अत एव मण्डलैः, मण्डलप्रायैः। चत्वराभस्तादृशचत्वराकारैः। अकण्डुरैः कण्डूरहितैः स्वल्पकण्डूयुतैर्वा। करपाद-तले—इति विशिष्टस्थानं तस्मात् तद् विशेषेण परीक्ष्यम। न प्रायो मुखमण्डले—इति प्रसर्पणवैचित्र्यं लक्षणीयम्। प्राय इत्युक्तेः क्वचिद् ललाटादौ भवत्येव ॥७१०-१३॥

विसर्पणकालेदृष्टानि लिङ्गान्तराण्याह—ज्वरश्चेति। विषमः, विषमज्वर-लक्षणाक्रान्तः। तल्लक्षणन्तूक्तपूर्वं—यथा "यः स्यादनियतात् कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेगतश्चापि विषमः स ज्वरो विषमः स्मृतः" इति। त्वाचवैकृतं—त्वचि विषविसर्पणजन्याः विकृतयः। वंक्षण्या वंक्षणस्थाः। गलबाह्याः—ग्रीवापेशीना-मन्तरालस्थाः। ग्रन्थयः, लसीकाग्रन्थयः। अन्यत्र वेति—कक्षादिगता ग्रन्थयः। इहापि—द्वितीयदशायामपि प्रथमदशायामिव तिष्ठन्ति। कठिनीवत् खटिका-वर्त्तुलवत् चलन्ति, सचला इव त्वगधः प्रतिभान्ति। दन्ताश्चापीति—दन्तानां पतनं, हन्वस्थनि शोथ-कोथौ च चिकित्साकालेऽतिमात्र-रसकर्पूरादिप्रयोगाद् भवन्ति, न तु फिरङ्गरोगादिति केचित् ॥७१४-१६॥

जायन्ते चाथ केषाञ्चित्त्वक्-कलासङ्गमस्थले।
ओष्ठे गुदे भगे शिश्ने शोणाङ्काः पाण्डुरोन्नताः।
शिलीन्ध्रशीर्षकाकाराः श्लेष्मजाश्चिरकारिणः।
छत्राकार्शांसि नामैते प्रायेण स्युः फिरङ्गजाः॥७१७-१८॥
अस्थीनि सन्धयो वाऽपि प्रशूयन्ते रुजन्ति च।
विशेषतश्च जङ्घास्थ्नः पुरोगाऽस्थिधरा कला॥७१९॥
तारामण्डलशोथश्च क्षतं वा स्वच्छमण्डले।
दृष्टेर्विघातकृत् प्रायः शिरो-नेत्ररुजाप्रदम्॥७२०॥
फिरङ्गविषवीसर्पाः सरसानि क्षतानि च।
रोगसंक्रमणायाऽलं तद्विषक्रिमियोगतः॥७२१॥

जायन्ते इति। त्वक्कलासङ्गमस्थले—इत्यत्र कलापदमाशयान्तरीय-श्लेष्मलकलावाचि, तया त्वक्सङ्गमस्तु मुख-नासा-पायु-शिश्न-भगादिद्वारेषु। तत्र विशेषस्थानान्याह—ओष्ठे गुदे भगे शिश्ने इति। शोणाङ्काः कमलदलवर्णानि चिह्नानि। पाण्डुरोन्नताः श्वेतवर्णाः ईषदुत्सेधवन्तश्च। शिलीन्ध्रशीर्षकाकाराः—शिलीन्ध्रा नाम छत्राकाः, ये वर्षासुद्भवन्ति आर्द्रमृदादिभ्यः, तेषां शीर्षकाकाराः सित-स्थूलच्छत्राकशिखराभा इत्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्॥७१७-७१८॥

अथ अस्थिषु विषविसर्पणलिङ्गानि वर्णयति—अस्थीनीति। स्पष्टम्। विशेषतश्चेति प्रायोभाविलिंगं दर्शयति। अस्थिधरा कला—अस्थ्नां बहिरावरणी जीवभूमिः, सा चेत् प्रशूयते तदा तत्र विषमोन्नतस्थूलकोमलत्वं, सरुजत्वं, कदाचिदध्यस्थियुतत्वञ्च भवन्ति॥७१९॥

अथ फिरङ्गजां नेत्रविकृतिमाह—तारेति। तारामण्डलं नाम स्वच्छमण्डलस्य अन्तःपश्चिमस्था चक्राकारा प्रायः कृष्णाभा-जवनिका सङ्कोच-विस्फारशीला छिद्र-मध्या च। स्वच्छमण्डलं तु काचवत् स्वच्छोऽशः नेत्रबहिर्वृतेः, यत् पश्चिमस्थस्य कृष्णतारामण्डलस्य वर्णमादाय कृष्णादिवर्णयुक् प्रतिभाति। तदेतदखिलं प्रत्यक्ष-शारीरस्येन्द्रियखण्डे विस्तरेण वर्णितम्। शेषं स्पष्टम्॥७२०॥

फिरङ्गरोगस्य संक्रामकत्वं दर्शयति—फिरंगेति। फिरङ्गविषकृता ये वीसर्पाः ताम्रादिवर्णानि गात्रेषु चिह्नानि, सरसानि—अविशुष्काणि च यानि क्षतानि तानि

नासामूले च कस्यापि पुञ्जमस्थ्नां विशीर्यते।
नासासेतुविलोपश्च तेन स्यात् पूतिनस्ययुक् ॥७२२॥

कस्यापि वाऽथ क्षतमुल्वणं स्यात्
ताल्वस्थ्नि वा तालुनि कोमले वा।
विशीर्णमांसास्थि ततश्च गर्त्तं
येनाऽन्नपानादि नसो निरेति ॥७२३॥

रोगसंक्रमणाय अलं पर्याप्तम्। प्रायस्तेभ्य एव संस्पर्शादिहेतोः फिरंगरोगसंक्रमण-दर्शनात्। विषक्रिमयश्चेह त्रिपणिमाख्याः, तेषां योगतः, तदधिष्ठानात् ॥७२१॥

अथ नासाताल्वादिगतं प्रायोभाविलिङ्गमाह—नासामूले इतिं। नासामूलं नाम नासावंशस्योपरिभागो भ्रूमध्याधःस्थः। तत्र यदस्थिपुञ्जम्, अस्थिसमूहः यथा—उभयतो नासास्थिनी,† तयोर्धारकं मध्यप्राचीरञ्च यन्निर्मापकं पुरःकपाल-स्याग्रकण्टकं झर्झरास्थ्नो मध्यफलकञ्चेति। तदेतत् सर्वशोऽंशतो वा विशीर्यते क्षतसम्भवात्, तेन नासासेतुविलोपः। नासासेतुश्च नासामूलस्थः सेतुवद्भागः, यो नेत्रकोटरयोर्मध्ये वर्त्तते, तस्य विलोपः—तन्निर्मापकास्थिसंक्षयात्। तेन चिपिट-नासामूलत्वमुन्नसत्वञ्च। पूतिंनस्ययुक्, दुर्गन्धपूयादिस्रावसहितः। कदाचिदत्र पुरःकपालस्थललाटकोटरेषु विषप्रवेशादपि पूयरक्तस्रावो दृष्टः। पूतिनस्य-नासा-पाक-पूयरक्तरोगाणां लक्षणानि तु सुश्रुते द्रष्टव्यानि ॥७२२॥

अथ फिरङ्गकृतं तालुसंक्षयं नामोपद्रवं वर्णयति—कस्यापीति। उल्वणं विकट-दर्शनं क्षतम्। ताल्वस्थ्नि मुखगुहाच्छदिभूते ताल्वस्थ्नोः संयुक्तपत्रकद्वये। कोमले तालुनि, तत्पश्चिमसंलग्ने मांसकलामये कोमलतालुभागे काकलकयुते। विशीर्णे मांसास्थिनी यत्रेति विशीर्णमांसास्थि—क्षतविशेषणं गर्तविशेषणं वैतत्। ततश्च हेतोः गर्त्तं बृहद्विवरम्। तस्मान्निगरणकाले तेनैव गर्तेन अन्नपानादि नसः नासा-मार्गाद् निर्गच्छति। अत्र कारणं मुख-नासा-गलविलानामेकीभावः। स्वस्थस्य तु नासापश्चिमद्वारं निगरणकाले कोमलतालुना ऊर्ध्वाकृष्टेन निरुध्यते, ततो नासापथेन न निर्गच्छति अन्नपानमितीह स्मर्त्तव्यम्। सोऽसावसाध्योपद्रवः फिरङ्गरोगस्य यः सम्यगनुपक्रान्तस्यैव दृश्यते ॥७२३॥

---

† नासास्थ्नां सन्निवेशस्तु प्रत्यक्षशारीरस्यास्थिखण्डे द्रष्टव्यः, नासानिर्माणन्त्विन्द्रियखण्डे।

कस्यापि शल्कस्तरसंवृतं स्यात्
त्वचि क्षतं मण्डलवत् सचूड़म्।
जीर्णे द्वितीयेऽथ फिरङ्गवेगे
तृतीयके वा शिखरिक्षतं तत् ॥७२४॥

द्वितीयेयं दशा प्रोक्ता प्रायो वर्षद्वयावधिः।
वर्षाद्वर्षार्धकाद्वाऽपि सोपक्रान्ता प्रशाम्यति ॥७२५॥

(तृतीया दशा) तृतीया तु फिरङ्गस्य दशा वर्षद्वयात् परम्।
वर्षाणां विंशतिं यावत्रिंशद्वर्षाण्यथाऽपि वा ॥
विषविस्फोटकास्तत्र विषगण्डकसंज्ञकाः।
बहिर्वाऽभ्यन्तरे वापि सम्भवन्ति यतस्ततः ॥७२६-२७॥
ते केचित् कन्दुकाकारा वदरादिनिभाः परे।
उत्ताना वाऽथ गम्भीरास्त्वङ्मांसास्थ्यादिपीड़नाः ।७२८।

अथ द्वितीयदशाशेषे तृतीयदशायाञ्च दृष्टं शिखरिक्षतं वर्णयति—कस्यापीति। कस्यापि रोगिणः, शल्कस्तरसंवृतं, शल्काः मीनचर्मसंसक्ताः तनुमसृण-पत्रकाकाराः, तत्सादृश्यादिहापि शल्कशब्दप्रयोगः। तेषां स्तरैः उपर्युपरिस्थितैः संवृतम्—आच्छादितम्। मण्डलवदिति प्रायोभाविलक्षणं, क्वचिद्दण्डाद्याकारमपि। सचूड़ं शिखरयुक्तम्। तदेतत् शिखरिक्षतं[१] नामेति ग्रन्थकृतः संज्ञा। तच्च स्वल्प-संख्यमेव भवतीति स्मर्त्तव्यम्। द्वितीये इति। वर्षद्वयावधिरित्यवधिः सम्यगुप-क्रमाभावे। सम्यगुपक्रमे तु सा संक्षिप्यते नवाविष्कृतचिकित्सया ॥७२४-७२५॥

अथ फिरङ्गरोगस्य तृतीयां दशां वर्णयति—तृतीयेति। स्पष्टं व्याख्यातपूर्वञ्च। विषविस्फोटका विषगर्भा विस्फोटकाः इत्यर्थः। तेषामिह पारिभाषिकी संज्ञा विषगण्डका[२] इति। गण्डसदृशत्वाद् गण्डकाः। ते बहिः—त्वङ्मांसास्थ्यादिषु, अभ्यन्तरे आशयादिषु च यत्र तत्र सम्भवन्ति। तद्विशेषमाह—ते केचिदिति। वदरादिनिभाः—वदरं कोलफलम्, आदिपदेन क्षुद्रतरविकङ्कत-कलायादिफलानां ग्रहणम्। उत्तानास्त्वङ्मात्रपीड़नाः। गम्भीराः मांसास्थ्यादिपीड़नाः। आदि-पदेनाशयादीनां ग्रहणम् ॥७२६-२८॥

१। शिखरिक्षतम्—Rupia. २। विषगण्डकः—Gumma (गमा)।

बहिर्भवस्त्वसौ कुर्यात् प्रभिन्नः क्षतमण्डलम् ।
पिच्छागर्भं गभीरश्च तच्चिरेण प्ररोहति ॥
अन्तर्भवस्तु प्रायेण कन्दुकाभोऽवतिष्ठते ।
बर्धते चाश्रयाऽशः स विविधं वैकृतं दिशन् ॥
अथाऽस्मिन् सति कोष्ठान्तर्लिंगं विद्रधिवद्भवेत् ।
फुस्फुसे यकृति प्लीह्नि पृष्ठवंशादिकेऽथवा ॥७२६-३१॥
मस्तिष्के वा सुषुम्नायाः काण्डे वा तस्य सम्भवात् ।
सैकाङ्गकम्पोऽपस्मारः पंगुतादिश्च जायते ॥७३२॥

अथैषां बाह्याभ्यन्तरभेदेन लक्षणानि विशदीकरोति बहिरिति। बहिर्भवः त्वङ्मांसादिगतः। असौ विषगण्डकः। प्रभिन्नः स्फुटितः। पिच्छागर्भं वब्बुल-निर्यासवद्वस्तुधारकम्। अन्तर्भवं विषगण्डकं व्याचष्टे अन्तरिति। अन्तर्भवस्तु स द्विविधः, अस्थिमज्जादिगतः आशयादिगतश्च। तत्राशयाः—फुस्फुस-यकृत्-प्लीहादयः। पृष्ठवंशादिके, पृष्ठवंश-मस्तिष्क-सुषुम्नादिषु। कन्दुकाभोऽवतिष्ठते— इत्यत्र कन्दुकाः गोलकाः, ते क्षुद्रा बृहन्तश्च भवन्ति। अवतिष्ठते, न स्फुटितो भवति, बाह्यविषगण्डकवत्। आश्रयाशः—यः आश्रयमश्नाति, अग्निवद् भक्षयतीत्यर्थः। वैकृतं दिशन् विकारान् जनयन्। अथ कोष्ठान्तर्भवस्य विषगण्डकस्य लिङ्गान्याह— अथेति। विद्रधिवद् वक्ष्यमाणविद्रधिलक्षणम्। विद्रधिसामान्यलक्षणन्तु यथा— महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाप्यथवायतमिति (सु० नि० ९ अ०)। परमत्र विशेषः— विद्रधिः पच्यते, न तु विषगण्डकः ॥७२६-३१॥

मस्तिष्कादिगतस्य विषगण्डकस्य लिङ्गानि पृथगभिधत्ते—मस्तिष्केति। मस्तिष्क-सुषुम्नाकाण्डादीनां वर्णनं तत्तत्कार्याणि च शारीरे द्रष्टव्यानि। अपस्मारो नाम मूर्च्छारोगविशेषो वक्ष्यमाणः। स चेह प्रायेण एकाङ्गकम्पसहितः, मस्तिष्कस्थ-चेष्टाधिष्ठानविशेषस्य पीड़नात्। तद्विवरणञ्च सूक्ष्मतत्वान्वेषिभिः शारीरे नाड़ीक्षेत्र-वर्णनविज्ञानीयाध्याये द्रष्टव्यं (प्र० शा० ३य खं ८ अ०)। पङ्गुतादिश्च सुषुम्नाकाण्डस्य स्थानविशेषेषु विषगण्डकसम्भवात। पङ्गुता नाम सक्थिद्वयस्याकर्मण्यता। तदुक्तं—पङ्गुः सक्थ्नोः द्वयोर्वधादिति। आदिपदेन बाह्वादीनामप्यकर्मण्यता क्वचिद् भवतीत्युन्नेयम् ॥७३२॥

महाधमन्या मूले वाऽरोहिभागेऽथवा क्वचित्।
प्रशोथः स्फारता चैव ततो हृद्रोगसम्भवः ॥७३३॥
प्रायशो धमनीनाञ्च सूक्ष्माणान्तु विशेषतः।
कलाऽन्तरीया शूयेत शनैः स्रोतोनिरोधकृत् ॥७३४॥
धमनीभंगुरत्वं वा स्थितिस्थापकताक्षयात्।
धमनीवृतिषु ह्यत्र सुधाकणकसञ्चयः ॥७३५॥

अथ फिरङ्गविषकृतान् धमनीविकारान् तत्कृतरोगांश्च व्याचष्टे—महाधमन्या इति। महाधमनी नाम हृदयाद् बहिर्गता स्थूलतमा धमनी शरीरे, या हृदयादुत्थाय मरालग्रीवावद् वक्रीभूय पृष्ठवंशाभिमुखं गता। तस्या आरोहिभागो द्व्यङ्गुलमात्रदीर्घः पञ्चांगुलपरिणाहश्चेति शारीरे वर्णितम्। मूलन्तु तस्याः किञ्चिद् विस्फारितं हृदय-सम्बद्धं, तत्र महाधमनीमूले वारोहिभागे वा फिरङ्गविषजन्यः प्रशोथो भवति। महाधमनीप्राचीरिकाणां दौर्बल्याच्च तदंशस्य स्फारता, विस्फारितभावः। ततश्च कारणाद् हृद्रोगस्य सम्भवः। महाधमनीद्वारस्थितानामर्धेन्दुकपाटिकानां स्वय-म्पतिष्णूणां यथाकालं पतनाभावात् महाधमनीद्वारस्य सम्यङ्निरोधासम्भवात्। तदेतद् हृद्रोगवर्णने सम्यक्तरं व्याख्यास्यते ॥७३३॥

अपरमपि धमनीरोगमाह—प्रायश इति। अत्र सर्वासां धमनीनां प्राचीरिकासु प्रशोथः प्रायेण, विशेषतस्तु सूक्ष्माणाम्। अन्तःप्राचीरभूता हि तत्र कला शूयेत, शोथवती स्यात्। ततश्च शनैः रक्तस्रोतोनिरोधः ॥७३४॥

अथ तृतीयं धमनीविकारभेदमाह—धमनीति। धमनीभंगुरत्वं, धमनी-प्राचीरिकाणां त्रुटनशीलत्वम्। वेति पक्षान्तरप्रदर्शनाय। भंगुरत्वहेतुमाह—स्थितिस्थापकताक्षयादिति। स्थितिस्थापकता नाम स्वाभाविकस्थितौ स्थापक-त्वम्, येन गुणविशेषेण वेत्र-वंशादेरवनामित-निर्मुक्तस्य पुनः ऋजूभावः, अथवा शून्यगर्भ-'रवर'[1] गोलकस्य फूत्कारेण प्रसारितस्य पुनः सङ्कोचः सम्भवति। एवञ्च हृदयस्य सङ्कोचकाले धमन्यः स्फारीभवन्ति, ततो हृदयस्य विस्फारकाले पुनः सङ्कुचितास्ताः स्वभावमापद्यन्ते, सेयं धमनीनां स्थितिस्थापकता। तस्याः, धमनी-प्राचीरिकासु वर्त्तमानायाः क्षयाद् विलुप्तप्रायत्वात्। ननु कथमेवमित्याह—धमनी-वृतिष्विति। धमनीवृतयः—धमनीप्राचीरिकाः, तास्तिस्रः—बाह्या, मध्यमा,

---

१। रवरं नाम—वटसदृशवृक्षविशेषस्य स्थितिस्थापकगुणो निर्यासः (Rubber).

इत्थं मस्तिष्कमूलस्थ-धमनीचक्रसम्भवाः।
तिस्रस्तिस्रो धमन्यो या मस्तिष्कं तर्पयन्ति हि।
तासामेकतमा यर्हि रुध्यते त्रुट्यतेऽथवा।
तदा संन्यासरोगेण मृतिः पक्षवधादि वा ॥७३६-३७॥

(जन्मदोषजफिरङ्गलिङ्गानि)

जन्मदोषकृतः प्रोक्तः फिरङ्गाख्यगदस्तु यः।
लिङ्गान्युक्तानि तत्र स्युः क्रमस्तेषां तु भिद्यते ॥७३८॥
वालः स जातः स्वस्थोपि प्रायो मासद्वयात् परम्।
पीनसं श्वासकृच्छ्रञ्च वीसर्पादींश्च दर्शयेत्।

आभ्यन्तरी चेति। तासु स्थितिस्थापकाः स्नायुतन्तवः मांसतन्तवश्च बहुशः। तासामन्तरालेषु सुधाकणकसञ्चयः, सुधा — खटिकाचूर्णं, तस्य सूक्ष्मकणानां सञ्चयः—अनुप्रविष्टत्वम्। अत एव स्थितिस्थापकतन्तूनां क्रमशः कर्मण्यताहानिः। धमनीप्राचीरिकावर्णनन्तु प्रत्यक्षशारीरे धमनीखण्डे द्रष्टव्यम् ॥७३५॥

अथ पूर्वोक्तधमनीविकारयोर्दृष्टान्तं दर्शयति—इत्थमिति। मस्तिष्कमूलस्थं धमनीचक्रं शारीरे सम्यग् वर्णितम्। ततसम्भवा धमन्यः अग्रिम-मध्यम-पश्चिमाभिधास्तिस्रो वामतस्तिस्रो दक्षिणतः स्थिताः मस्तिष्कपोषण्यः। तासामेकतमा धमनी यर्हि यदा रुध्यते, रक्तस्रोतोनिरोधेनाकर्मण्या भवति, त्रुट्यते भज्यते वा, तदा सन्न्यासरोगेण मृतिः—मरणं, अथवा पक्षवधादि लक्षणम्। पक्षवधो नाम शरीरैकार्धस्य चेष्टानाशः, क्वचित् संज्ञानाशश्च। आदिपदेन मस्तिष्कादिस्थानविशेषे पूर्वोक्तविकृतिसम्भवात् पक्षवधस्य विचित्राः प्रकारा उच्यन्ते, यथा—क्वचिद् दक्षिणतः पक्षवधे वाक्शक्तिलोपः। क्वचिन्मुखस्य वामार्धवधः, शरीरस्य तु दक्षिणार्धवधः। तद्विस्तरविज्ञानं शारीरे वातव्याधिविज्ञाने च द्रष्टव्यम् ॥७३६-३७॥

अथ जन्मदोषकृतं फिरङ्गरोगं वर्णयति—जन्मेति। जन्मदोषश्च मातुरमरायाः क्रिमिसङ्कुलत्वाद् गर्भस्थवाले क्रिमिसञ्चाररूप इत्युक्तपूर्वम्। उक्तानि लिङ्गानि—स्वकृतफिरङ्गरोगवर्णने वर्णितानि। तेषां क्रमः पौर्वापर्यं तु भिद्यते, भिन्नरूपो भवति, नतु तत्र पूर्ववत् प्रथमादिदशाविभागः ॥७३८॥

वाल इति। स फिरङ्गदुष्टो वालः स्वस्थोऽपि, आपातदृष्ट्या नीरोगोऽपि। प्रायः प्राचुर्येण मासद्वयात् परं प्रसवादिति शेषः, पीनसादिलक्षणानि दर्शयेत्।

नासास्थिनी च शीर्येते नासासेतुश्च भज्यते।
गलरोगश्च बाधिर्यं मूकता च ततः क्वचित्॥
सृक्कणी च विदीर्येते मुखान्तश्च क्षताकुलम्।
येनास्मै स्तन्यदायिन्यां फिरङ्गविषसंक्रमः॥७३९-७४१॥
ईषच्छोणान्यायतानि स्वल्पोत्सेधानि चाऽस्य हि।
छत्राकार्शांसि जायन्ते यथोक्तानि गुदादिषु॥
गात्रेषु विषवीसर्पो विशेषात्तु नितम्बयोः।
ऊर्वन्तर्भागयोश्चापि ताम्रः श्यावश्च दृश्यते॥
यकृत्प्लीह्नोश्च वृद्धिः स्यादस्थिप्रान्तेषु शूनता।
सन्धिशोफश्च सरुजः प्रायोऽध्यस्थिगुटीवृतः।
सार्धवर्षेण वर्षेण लिङ्गान्येतानि भूरिशः।
अपयान्ति पुनश्चास्य विषं कालात् प्रकुप्यति॥७४२-४५॥

पीनसं प्रतिश्यायम्। वीसर्पादीन् द्वितीय-तृतीयदशोक्तान्। नासास्थिनीति। शीर्येते, क्षतोत्पत्तिपूर्वकं क्रमशः क्षयमाप्नुतः। ततश्च हेतोः नासासेतुः—नेत्रयोरन्तरालस्थ उत्सेधस्त्वगस्थिमयः भज्यते—भग्नो भवति। गलरोगः—कण्ठान्तः विषवीसर्पसम्भवात्। बाधिर्यम्—बधिरता श्रवणाशक्तिः। तच्च पटहपूरणिकाख्यवायुमार्गस्य निरोधात् प्रायः। ततश्च मूकत्वम्। बधिरो हि बालः श्रवणाशक्तिहेतोरेव शब्दान् न जानाति, ततो नोच्चारयति। सृक्कणी—मुखद्वारस्य पार्श्वस्थप्रान्तद्वयम्। मुखान्तः—मुखकुहरस्याभ्यन्तरम्। अत एव स्तन्यदायिन्यां मातरि धात्र्यां वा फिरङ्गविषसंक्रमः, क्षतानां क्रिमिसङ्कुलत्वात्॥७३९-७४१॥

ईषदिति। छत्राकार्शांसि[1] द्वितीयावस्थावर्णने वर्णितपूर्वाणि, तानीह भूम्ना भवन्ति। विषवीसर्पश्च वर्णितस्तत्रैव। अस्थिप्रान्तेषु शूनता—अस्थ्नां सन्धेयभागेषु शोथः। सन्धिशोफस्तु समग्रसन्धिव्यापी। अध्यस्थिगुटीवृतः, अस्थ्नामुपरि संजातैर्गुड़िकाकारैरस्थिशकलैर्व्याप्तः। सार्धवर्षेणेति। एतानि पूर्वोक्तानि लिङ्गानि तावता कालेनापयान्ति विलीयन्ते। ततस्तद्विषं पुनः कालं प्राप्य कुपितं भवति॥७४२-७४५॥

१। छत्राकार्शांसि—Condylomata.

दन्तोद्गमे द्वितीये तु यौवनारम्भ एव वा ।
तानि तान्येव लिङ्गानि पुनराविर्भवन्ति च ॥
प्रायशो राजदन्तौ च भवतः कीलकाकृती ।
अग्रेऽर्धचन्द्रलूनौ वा शीर्यन्ते च नखा अपि ॥
तारामण्डलगः शोथः क्षतं वा स्वच्छमंडले ।
अभिष्यन्दश्च नेत्रे स्याद् दृष्टिनाशस्ततः क्वचित् ।७४६-४८।
काले लब्धवयस्कस्य तस्य स्युर्विषगंडकाः ।
प्रायेणाभ्यन्तरास्ते च विषश्चे दवशिष्यते ॥७४६॥

मस्तिष्कसौषुम्निकतन्त्रगं चेद्
विषं विदध्याद् विकृतिं तदन्तः ।
तदा शिशोरप्यनिलोद्भवाः स्यु-
रंगेषु वैकल्यकरा विकाराः ॥७५०॥

कालं प्राप्य कदा विषं प्रकुप्यतीत्याह—दन्तोद्गमे इति । द्वितीयदन्तोद्गमे—सप्तमवर्षादारभ्य षोड़शवर्षान्तकाले । यौवनारम्भे षोड़शवर्षादूर्ध्वम् । राजदन्तौ—ऊर्ध्वहनुमण्डले मध्यरेखामुभयतः स्थितौ कर्तनकदन्तौ, तौ प्रायशः कीलकाकृती अथवा अग्रे अर्धचन्द्रवद् लूनौ कर्तितौ भवतः । नखा अपि शीर्यन्ते—विकृताः शनैः शीर्णाः भवन्ति । तारामण्डलग इति । तारामण्डलशोथादिनेत्ररोगलक्षणं द्वितीयदशावर्णने व्याख्यातपूर्वम् । अभिष्यन्दः समग्रनेत्रवर्त्मनो व्रणशोथः, नेत्रवर्त्म तु प्रतिनेत्रं नेत्रच्छदान्तरावरणभूता तन्वी श्लेष्मलकला या अन्तःप्रत्यावृत्ता नेत्रगोलकस्य पुरोभागमाच्छादयति (प्र० शा० इन्द्रियखण्डम्)। दृष्टिनाशः दृष्टिशक्तिनाशः । स च बहुधा सम्भवति, स्वच्छमण्डलस्याविलीभावात्, तारामण्डलप्रशोथात्, दृष्टिवितानदोषाद् वेत्यादिहेतोः ॥७४६-७४८॥

काले इति । लब्धवयस्कस्य पूर्णयौवनस्य प्रौढ़स्य वा । विषगण्डकाः—तृतीयदशालिङ्गवर्णने वर्णिताः । विषं फिरङ्गविषं यदि अवशिष्टं स्यात्तदा ॥७४६॥

मस्तिष्केति । मस्तिष्कसौषुम्निकतन्त्रम्—समग्रनाड़ीतन्त्रस्य मूलभूतं निखिलसंज्ञाचेष्टाधिष्ठानं प्रत्यक्षशारीरे वर्णितम् । तदन्तः—मस्तिष्के सुषुम्नाकाण्डे नाड़ी-

मस्तिष्कान्तः वृतिषु च फिरङ्गक्रिमिसञ्चये।
मनोव्याधिं पुरस्कृत्य सम्भवन्त्यनिलामयाः॥
उन्मादो वातकफजो वाग्जाड्यश्चौष्ठकम्पयुक।
अङ्गानामवसादश्च शनैः कर्मण्यताक्षयः।
क्वचिद्वाचालता वाऽपि पंगुता च भ्रमिः क्रमः।
यूनां प्रायेण रोगोऽयमायतौ मरणप्रदः।
वृद्धानामप्यसौ रोगः स्वकृते स्यात् फिरङ्गके।
दुश्चिकित्स्यो मनोनाशी प्रत्याख्येयश्चिरं स्थितः ।७५१-५४।
हन्ताऽयं दारुणो रोगो दहन् देहं तुषाग्निवत्।
कुशलैरनुपक्रान्तश्चिरं क्लेशयते तनूम् ॥७५५॥

मण्डले वा। अनिलोद्भवा विकाराः—वातव्याधयः। अंगेषु वैफल्यकराः, खञ्जत्व-पङ्गुत्व-पक्षवधादिकराः। शिशोरपीति—प्रघयसान्तु ते सुप्रसिद्धाः॥७५०॥

अथ फिरगकृतान् मानसव्याधीन् वर्णयति—मस्तिष्कान्तरिति। मस्तिष्कस्यान्तः, तद्वस्तुनि, वृतिषु च शारीरवर्णितासु। तदन्तःस्थब्रह्मवारिणि च विशेषादिति तत्त्वम्। फिरंगक्रिमीणां सञ्चये भूरिशश्चिरावस्थाने मात्सरोगपूर्वं वातव्याधयः सम्भवन्ति वक्ष्यमाणाः। उन्माद इति। उन्मादस्त्विह प्रायेण वातकफजः। उन्मादलक्षणञ्च प्राचां यथा—"धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्त्वं हृदयञ्च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्"—इति। वाग्जाड्यम—शब्दानामुच्चारणे जड़ता। सा च ओष्ठकम्पयुता। अङ्गानामवसादः, सर्वाङ्गपेशीनां भृशदुर्बलता। ततश्च शनैः कर्मण्यताक्षयः—कालक्रमेण कर्मसामर्थ्य-नाशः। वाचालता—बहुगर्हणीयवचनत्वम्। पंगुता—सक्थिद्वयवधः। स एष रोगः यौवनभवोऽपि आयतौ परिणामे शक्तिक्षयान्मृत्युप्रदः। वृद्धानामपीति। मनोनाशी, चित्तवृत्तीनां नाशकरः। एष रोगो वातव्याधौ पुनर्वक्ष्यते॥७५१-५४॥

हन्ताऽयमिति। तुषाग्निर्यथा चिराय शनैर्दहन् सर्वमप्याधारं भस्मीकरोति, तथाऽयमपि रोगः कृत्स्नं देहं क्रमशो नाशयतीत्यर्थः॥७५३॥

इति नवमोऽध्यायः।

8x8/L

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पो० अ[illegible]म्बा, पोस्ट बाक्स नं० ८

वाराणसी-१ (यू० पी०)